विवेक-ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम

रायपुर (म.प्र.)

वर्ष : २०

अंक : ३

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जुलाई–अगस्त–सितम्बर

* १९८२ *

सम्पादक एवं प्रकाशक
स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक
स्वामी श्रीकरानन्द

क ८) एक प्रति २।)

आजीवन सदस्यता शुल्क – १००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२००१ (म. प्र.)
दूरभाष: २४५८९

अनुक्रमणिका

—।०।—

१. अहंता मोक्ष में बाधक ... १
२. अग्नि-मंत्र (विवेकानन्द के पत्र) ... २
३. तुरीयानन्दजी के सान्निध्य में (७) ... ६
४. भगिनी निवेदिता
(स्वामी मुख्यानन्द पुरी) ... २५
५. शिक्षा के क्षेत्र में रामकृष्ण मिशन की
भूमिका (स्वामी वीरेश्वरानन्द) ... ४०
६. 'हे दयामयि सारदे माँ' ("श्री") ... ५०
७. विभीषण-शरणागति (५/२)
(पं. रामकिंकर उपाध्याय) ... ५१
८. पूजा-विज्ञान (पूर्वार्ध)
(स्वामी प्रमेयानन्द) ... ७६
९. स्वधर्म में मरना श्रेयस्कर (गीता-प्रवचन—५२)
(स्वामी आत्मानन्द) ... ८९
१०. श्रीरामकृष्ण के प्रिय भजन (२)
(स्वामी वागीश्वरानन्द) ... १०९
११. मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प
(शरद् चन्द्र पेंढारकर) ... ११४
१२. रामकृष्ण-सूक्ति-मन्दाकिनी ... १२१
१३. साहित्य वीथी (पुस्तक-समीक्षा) ... १२४

कवर चित्र परिचय : स्वामी विवेकानन्द

भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्य पर प्राप्त
कराये गये कागज पर मुद्रित

मुद्रण स्थल:— नरकेसरी प्रेस, रायपुर - ४९२००१ (म. प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष २०] जुलाई–अगस्त–सितम्बर [अंक ३

* १९८२ *

अहंता मोक्ष में बाधक

देहेन्द्रियादावसति भ्रमोदितां
विद्वानहन्तां न जहाति यावत् ।
तावन्न तस्यास्ति विमुक्तिवार्ता-
प्यस्त्वेष वेदान्तनयान्तदर्शी ॥

—जब तक विद्वान् असत् देह और इन्द्रिय आदि में भ्रम से हुई अहंता को नहीं त्यागता, तब तक वह वेदान्त-सिद्धान्तों का पारदर्शी क्यों न हो, उसके मोक्ष की कोई बात ही नहीं ।

—विवेकचूड़ामणि, १६४

अग्नि-मंत्र

(फ्रेन्सिस लेगेट को लिखित)

६३, सेण्ट जार्जेस रोड, लन्दन,
६ जुलाई, १८९६

प्रिय फ्रैन्सिस,

...अटलाण्टिक महासागर के इस पार मेरा कार्य बहुत अच्छी रीति से चल रहा है।

मेरी रविवार की वक्तृताएँ बहुत सफल हुईं और उसी तरह कक्षाएँ भी। काम का मौसम खत्म हो चुका है और मैं भी बेहद थक चुका हूँ। अब मैं कुमारी मूलर के साथ स्विट्ज़रलैण्ड के भ्रमण के लिए जा रहा हूँ। गाल्सवर्दी परिवार ने मेरे साथ बड़ा सदय व्यवहार किया है। 'जो' * ने बड़ी चतुरता से उन्हें मेरी तरफ आकृष्ट किया। उनकी चतुरता और शान्तिपूर्ण कार्य-शैली की मैं मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करता हूँ। वे एक राज चला सकती हैं। मनुष्य में ऐसी प्रखर, साथ ही अच्छी सहज-बुद्धि मैंने बिरले ही देखी है। अगली शरद् ऋतु में मैं अमरिका लौटूँगा और वहाँ का कार्य फिर आरम्भ करूँगा।

परसों रात को मैं श्रीमती मार्टिन के यहाँ एक पार्टी में गया था, जिनके सम्बन्ध में तुमने अवश्य ही 'जो' से बहुत कुछ सुना होगा।

---

* कुमारी जोसेफिन मैक्लिऑड

इंग्लैण्ड में यह कार्य चुपचाप, पर निश्चित रूप से बढ़ रहा है। यहाँ प्रायः हर दूसरे पुरुष अथवा स्त्री ने मेरे पास आकर मेरे कार्य के सम्बन्ध में बातचीत की। ब्रिटिश साम्राज्य के कितने ही दोष क्यों न हो, पर भाव-प्रचार का ऐसा उत्कृष्ट यन्त्र अब तक कहीं नहीं रहा है। मैं इस यन्त्र के केन्द्रस्थल में अपना विचार रख देना चाहता हूँ, और वे सारी दुनिया में फैल जायँगे। यह सच है कि सभी बड़े काम बहुत धीरे धीरे होते हैं, और उनकी राह में असंख्य विघ्न उपस्थित होते हैं, विशेषकर इसलिए कि हम हिन्दू पराधीन जाति हैं। परन्तु इसी कारण हमें सफलता अवश्य मिलेगी, क्योंकि आध्यात्मिक आदर्श सदा पददलित जातियों में से ही पैदा हुए हैं। यहूदी अपने आध्यात्मिक आदर्शों से रोम साम्राज्य पर छा गये थे। तुम्हें यह सुनकर प्रसन्नता होगी कि मैं भी दिनोंदिन धैर्य और विशेषकर सहानुभूति के सबक सीख रहा हूँ। मैं समझता हूँ कि शक्तिशाली ऐंग्लोइण्डियनों तक के भीतर मै परमात्मा को प्रत्यक्ष कर रहा हूँ। मेरा विचार है कि मैं धीरे धीरे उस अवस्था की ओर बढ़ रहा हूँ, जहाँ खुद 'शैतान' को भी अगर वह हो तो मैं प्यार कर सकूँगा।

बीस वर्ष की अवस्था में मैं अत्यन्त असहिष्णु और कट्टर था। कलकत्ते में सड़कों के जिस किनारे पर थियेटर हैं, मैं उस ओर के पैदल-मार्ग से ही नहीं चलता था। अब तैंतीस वर्ष की उम्र में मैं वेश्याओं के साथ एक

ही मकान में ठहर सकता हूँ और उनसे तिरस्कार का का एक शब्द कहने का विचार भी मेरे मन में नहीं आयेगा। क्या वह अधोगति है? अथवा मेरा हृदय विस्तृत होता हुआ मुझे उस विश्वव्यापी प्रेम की ओर ले जा रहा है, जो साक्षात् भगवान् है? लोग कहते हैं कि वह मनुष्य, ज़ो अपने चारों ओर होनेवाली बुराइयों को नहीं देख पाता, अच्छा काम नहीं कर सकता, उसकी परिणति एक तरह के भाग्यवाद में होती है। मैं तो ऐसा नहीं देखता। वरन् मेरी कार्य करने की शक्ति अत्यधिक बढ़ रही है और अत्यधिक प्रभावशील भी होती जा रही है। कभी कभी मुझे एक प्रकार का दिव्य भावावेश होता है। ऐसा अनुभव करता हूँ कि मैं प्रत्येक प्राणी और वस्तु को आशीर्वाद दूँ—प्रत्येक से प्रेम करूँ और गले लगा लूँ और मैं यह भी देखता हूँ कि बुराई एक भ्रान्ति मात्र है। प्रिय फ्रैन्सिस, इस समय मैं ऐसी ही अवस्था में हूँ और अपने प्रति तुम्हारे तथा श्रीमती लेगेट के प्रेम और सहानुभूति का स्मरण कर मैं सचमुच आनन्द के आँसू बहा रहा हूँ। मैं जिस दिन पैदा हुआ था, उस दिन को धन्यवाद देता हूँ। यहाँ पर मुझे कितनी सहानुभूति, कितना प्रेम मिला है। और जिस अनन्त प्रेमस्वरूप भगवान् ने मुझे जन्म दिया है, उसने मेरे हर एक भले और बुरे (बुरे शब्द से डरो मत) काम पर दृष्टि रखी है—क्योंकि मैं उसी के हाथ के एक औजार के सिवा और हूँ ही क्या, और रहा ही क्या? उसी की सेवा के लिए मैंने अपना

सब कुछ—अपने प्रियजनों को, अपना सुख, अपना जीवन—त्याग दिया है। वह मेरा लीलामय प्रियतम है और मैं उसकी लीला का साथी हूँ। इस विश्व में कोई युक्ति-परिपाटी नहीं है। ईश्वर पर भला किस युक्ति का वश चलेगा ? वह लीलामय इस नाटक की समस्त भूमिकाओं पर हास्य और रुदन का अभिनय कर रहा है। जैसा 'जो' कहती हैं—अजब तमाशा है ! अजब तमाशा है !

यह दुनिया बड़े मज़े की जगह है, और सबसे मजेदार है—वह असीम प्रियतम ! क्या यह तमाशा नहीं है ? सब एक दूसरे के भाई हों या खेल के साथी, पर वास्तव में हैं ये मानो पाठशाला के हल्ला मचानेवाले बच्चे, जो कि इस संसाररूपी मैदान में खेल-कूद करने के लिए छोड़ दिये गये हैं। यही है न ? किसकी तारीफ करूँ और किसे बुरा कहूँ—सब तो उसी का खेल है। लोग इसकी व्याख्या चाहते हैं। पर ईश्वर की व्याख्या तुम कैसे करोगे ? वह मस्तिष्कहीन है, उसके पास युक्ति भी नहीं है। वह छोटे मस्तिष्क तथा सीमित तर्क-शक्तिवाले, हम लोगों को मूर्ख बना रहा है, पर इस बार वह मुझे ऊँघता नहीं पा सकेगा।

मैंने दो-एक बातें सीखी हैं; प्रेम और प्रियतम—तर्क, पाण्डित्य और वागाडम्बर के बहुत परे। ऐ साकी, प्याला भर दे और हम पीकर मस्त हो जायँ।

तुम्हारा ही प्रेमोन्मत्त,
विवेकानन्द

तुरीयानन्दजी के सान्निध्य में (७)

(स्वामी तुरीयानन्दजी भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के संन्यासी शिष्यों में अन्यतम थे। उनके कथोपकथन बंगला मासिक 'उद्‌बोधन' में यत्र-तत्र प्रकाशित हुए थे। उन्हें संग्रहित कर हिन्दी में अनूदित करने का कार्य रामकृष्ण मठ, नागपुर के स्वामी वागीश्वरानन्द ने किया है। –स०)

मंगलवार, ६ जुलाई १९२०

स्थान–रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, काशी

स्वामी तुरीयानन्दजी बरामदे में बैठे हुए हैं। चारों ओर संन्यासी-ब्रह्मचारीगण बैठे हुए हैं। स्वामीजी कहने लगे–

"मनुष्य कितने ही बुरे संस्कार लेकर क्यों न जन्मा हो, सत्संग के प्रभाव से वह अच्छा बन जाता है, जैसे इत्र की दुकान में जाने पर तुम्हारी इच्छा हो या न हो, इत्र की सुगन्ध तुम्हारी नाक में प्रवेश करेगी ही। पर क्या लोग साधुसंग करते है ? क्या चाहे जो कोई वह कर सकता है ? ठाकुर बोल रहे हैं, भक्तगण सुन रहे हैं, किन्तु उनके साथी कान कान में कहते हैं, 'चलो ना, और कितना सुनोगे ?' फिर भी उन्हें न उठते देख अन्त में कहते हैं, 'तुम लोग आओ, हम तब तक नाव में जा बैठते हैं।' यह बात ठाकुर हमें कितने अपूर्व ढंग से बतलाते थे।

"सत्संग का फल तो अच्छा होगा ही, क्योंकि एक जीवन से ही दूसरे जीवन में भाव-संक्रमण हो सकता है, Nothing but a round body can give a round shadow (गोलाकार वस्तु की ही गोलाकार छाया हो सकती है)।

किसी व्यक्ति का लिखा पढ़कर जो होता है, उसके जीवन के संस्पर्श में आ सकने पर उससे कहीं अधिक फल होता है। भाषण सुनना और भाषण पढ़ना—कितना अन्तर है। फिर लिखने में जो जितना ज्यादा प्राण उँड़ेल दे सकता है उसका लिखा पढ़ने पर उतना ही ज्यादा परिणाम होता है। स्वामीज़ी का लेखन और हमारे अन्यान्य स्वामियों का लेखन देखो! Personality (व्यक्तित्व) ही असली चीज है। केवल कुछ ही लोग दुनिया को चला रहे हैं, और सब मानो भेड़ हैं। स्वामीजी सारी पृथ्वी घूम आकर बोले थे— 'Democracy (गणतन्त्र) के कोई सिर-पैर नहीं है—दो ही चार लोग सब काम चला रहे हैं।'

"जब कोई देश काम चलाने लायक मनुष्य नहीं दे पाता, तब वह रसातल को चला जाता है। हमारा देश तो धर्मप्राण देश है। हमारा देश सदा सन्त produce (उत्पन्न) करता आ रहा है। इतिहास में एक ऐसा समय तो दिखा दो, जब हमारे देश में यह बात नहीं हुई। एक एक जीवन ही कितनी सदियों तक कितने ही लोगों को चला रहा है। देखो न, नानक, कबीर, तुलसीदास—ये कितने दिनों से इस देश को चला रहे हैं!

"आज कालना की एक स्त्री आयी थी—हाल ही में विधवा हुई है। उससे ठाकुर के बारे में बातचीत हुई। वे लोग अपने घर बाबूराम महाराज को ले गये थे।

उसके पति के भाई ने बी० ए० पास कर गाँव में स्कूल खोला है। वह रुपये-पैसे कुछ नहीं लेता। देश में एक नया spirit (भाव) आ गया है। यह सच है कि समय लगेगा, पर यह स्पष्ट दिखायी दे रहा है कि एक हलचल शुरू हो गयी है। जननेतागण अब पहले की तरह लुका-छिपाकर नहीं बोलते। एक प्रबल जन-मत के रहने पर केवल सीनाजोरी के बल पर शासन चलाना कठिन है।"

स्वामीजी की देह पर एक दीमक आ गिरी। इस पर वे बोले – "इस समय सर्वत्र जीव-जन्तु, कीड़े-मकोड़े आदि खूब पैदा होते हैं। इसीलिए शास्त्रों में चातुर्मास की विधि है – बरसात के समय चार माह साधुओं को एक ही स्थान पर निवास करने कहा गया है। परिव्राजक अवस्था में मैंने कई बार इस प्रकार चातुर्मास किया है। एक बार मैं पुष्कर में था। 'पुष्करं दुष्करं तीर्थम्!' बड़ा ही सुन्दर स्थान है –बड़ा एकान्त। खूब आनन्द आता था। चातुर्मास के समय ऋषि-मुनिगण एक जगह रहते हुए शास्त्र-पठनादि किया करते, फिर आठ माह तीर्थों में घूमते फिरते। इस समय वे बाहर नहीं निकलते कि कहीं जीव-जन्तु मारे न जाएँ।"

जुलाई, १९२०

स्वामी तुरीयानन्दजी-लड़का बड़ा होशियार है। तेरह साल की उम्र है, पर बीस बरस के लड़के की तरह बातचीत करता है। इतने लड़के देखे, पर ऐसा बुद्धिमान्

लड़का नहीं देखा। शरीर बढ़ रहा है। इस बाल्य और किशोर अवस्था की सन्धि के समय अत्यन्त सावधान रहना चाहिए। हमारे देश में तेरहवें वर्ष से ही किशोर अवस्था आरम्भ हो जाती है, किन्तु शीत प्रधान देशों में यह और देरी से सोलह-सतरहवें वर्ष से होता है।

–फिर कुसंगति में 'पड़कर कई बार बहुत छोटी उम्र में ही यह अवस्था आरम्भ हो जाती है।

स्वामीजी– यह भी कहना होगा! मन में तो सूक्ष्म रूप में ये सब स्वाभाविक संस्कार हैं ही। सत्संग के परिणाम से ये सब संस्कार यदि धीरे धीरे मन से निकल जाएँ तो ही बचाव है, नहीं तो सुविधा पाते ही ये सब विचार उभड़ आते हैं। किन्तु इन बातों की चर्चा करना भी शास्त्रों ने निषेध किया है।

"एक बार संस्कार पड़ जाने पर बचना मुश्किल हो जाता है। यदि कोई समझ सके कि ब्रह्मचर्य के न रहने पर क्या हानि है और ब्रह्मचर्य के रहने पर क्या लाभ है, तो वह ब्रह्मचर्य–आश्रम समाप्त होने पर विवाह करके सद्गृहस्थ बन सकता है।"

र.– जो लोग कुश्ती–उश्ती करते हैं उनका मन कुछ दूसरी ओर रहने के कारण कई बार वे बच जाते हैं।

स्वामीजी–हाँ, परन्तु यदि भीतर यथार्थ धर्मभाव रहे तो ही रक्षा है, क्योंकि ब्रहमचर्य के साथ आध्यात्मिकता

का विशेष सम्बन्ध है। वीर्य स्थिर हुए बिना चित्त स्थिर नहीं होता। 'स्वस्थे चित्ते बुद्धयः सम्भवन्ति।'

'अवधूत गीता' लायी गयी तथा उसके आठवें अध्याय के ग्यारहवें श्लोक से आरम्भ कर अन्त तक पढ़ा गया।

स्वामी जी कहने लगे –

'चिन्ताक्रान्तं धातुबन्धं शरीरं नष्टे चित्ते धातवो यान्ति नाशम्।
तस्माच्चित्तं सर्वतो रक्षणीयं स्वस्थे चित्ते बुद्धयः सम्भवन्ति॥'

–अर्थात् यह शरीर धातु द्वारा गठित तथा विचार द्वारा परिचालित होता है। चित्त के नष्ट होने पर धातु भी नष्ट हो जाती है। अतएव चित्त की सब प्रकार से रक्षा करनी चाहिए। चित्त स्वस्थ होने पर सद्बुद्धि का उदय होता है।

'धातवः' यानी वीर्य। वीर्य नष्ट होने पर चित्त अस्थिर होता है। इससे इष्ट की मूर्ति चित्त में स्पष्ट रूप से प्रकाशित नहीं हो पाती। ठाकुर कहते थे' आईने का पारा ठीक रहे तो ही उस पर ठीक-ठीक प्रतिबिम्ब पड़ता है. पारा इधर का उधर हो जाने पर प्रतिबिम्ब ठीक नहीं पड़ता।'' चित्त क्या चीज है? – जहाँ से भाव उठते हैं, जिस पर प्रथम छाप पड़ती है। इसी पर से समझ सकते हो कि जहाँ से भाव उठेंगे, वही स्थान यदि कम्पित होता रहे तो फिर ध्यान कैसे सम्भव हो?

"हम केवल पढ़ते भर हैं – चित्त, मन, बुद्धि, पर कौनसा मन है, कौनसी बुद्धि और कौनसा चित यह

अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए। चित्त पर एक बार यदि बुरे संस्कार पड़ जायँ तो उनसे बचना बड़ा कठिन हो जाता है। इसीलिए गीता में भगवान् ने कहा है –

'तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥'[1]

'ज्ञान विज्ञान नाशनम्–एक बार यह बात सोचकर देखो!

'लक्षच्युतं चेद्यदि चित्तमीषद्
बहिर्मुखं सन्निपतेत्ततस्ततः।
प्रमादतः प्रच्युतकेलिकन्दुकः
सोपानपंक्तौ पतितो यथा तथा॥'[2]

–अर्थात्, जैसे असावधानीवश हाथों से खेलने की गेंद किसी सीढ़ी पर गिर पड़े तो वह सीढ़ियों पर से उछलते हुए नीचे चली जाती है, वैसे ही यदि चित्त थोड़ा भी लक्ष्यच्युत हो बहिर्मुख हो जाए, तो क्रमशः गिरते हुए अन्त में वह पतन की चरमावस्था को प्राप्त हो जाता है।

"टप, टप, टप, टप, ! – यानी बिलकुल पतन के अन्तिम सिरे पर जा पहुँचेगा।"

रा. –क्या बारह वर्ष ब्रह्मचर्य पालन करने पर ब्रह्मज्ञान होता है?

---

(१). इसलिए हे अर्जुन, तू पहले इन्द्रियों को वश में कर ज्ञान–विज्ञान को नष्ट कर डालने वाले इस पापी को जीत ले।'
–गीता, (३/४१)

(२) विवेक चूडामणि ३२६।

स्वामीजी – अवश्य ! ओज:शक्ति के प्रभाव से ब्रह्मज्ञान खुल जाता है। ब्रह्मज्ञान माने क्या है? – ज्ञान तो है ही, उसे प्रकट कर लेना यही न ! बारह वर्ष ब्रह्मचर्य रक्षा कर सकने पर चित्त स्वस्थ हो जाता है, तब उसमें ज्ञान प्रकाशित होता है । 'स्वस्थे चित्ते बुद्धय: सम्भवन्ति।' कौनसी शक्ति के बल पर स्वामीजी ने संसार को उलट-पुलट दिया। केशव सेन के बारे में ठाकुर कहते थे – 'केशव यदि त्यागी होता तो और भी अनेक काम कर सकता।' सिर्फ मुँह की बातों से क्या काम होता है ? तुम कहोगे एक, करोगे दूसरा।

"स्वामीजी हमसे कहते थे, 'क्या तुम समझते हो मैं सिर्फ लेक्चर ही देता हूँ ? I know I give them something solid. They know that they receive something solid (मैं जानता हूँ मैंने उन्हें कुछ ठोस दिया और वे जानते हैं कि उन्हें ठोस कुछ मिला)। न्यूयार्क में एक दिन स्वामीजी किसी क्लास में लेक्चर दे रहे थे। उसके बारे में तुम्हें क्या बताऊँ। का. ने कहा था, जैसे ध्यान के समय नीचे की कुलकुण्डलिनी को ऊपर की कोई शक्ति अपनी ओर आकर्षित करती है, स्वामीजी का लेक्चर सुनते सुनते वैसा ही हो रहा था। एक घण्टा लेक्चर होने के बाद का. ने announce (घोषित) किया –अब प्रश्नोत्तर होंगे। स्वामीजी का लेक्चर पूरा होते ही प्राय: सभी लोग उठ गये थे। स्वामीजी ने थोड़ा खीजकर कहा, इसके बाद और प्रश्नोत्तर काहे का रे ! इससे

भाषण सुनकर लोगों के मन में जो उच्च भाव जाग उठा है वह नष्ट हो जाएगा न !' एक बार समझकर देखो मामला। गोविन्द ! गोविन्द ! कैसी विलक्षण शक्ति ठाकुर तैयार कर गये ! संसार के विचारों की गति एकदम बदल ही गयी ! जिसे कोई आकर्षित न कर पाये, पर जो सब को आकर्षित कर ले उसकी शक्ति कितनी अद्‌भुत होगी—समझो एक बार ! एक साधु ने एक बार मुझसे कहा था, 'महाराज' अठारह बरस से वेदान्त रगड़ रहा हूँ . . . !' फिर उसने जो कहा था, उसका आशय यह था कि 'फिर भी दूर कहीं पैंजन की आवाज सुनायी देने पर मन उस ओर खिंच जाता है।' मन पर संस्कार जो पड़ गये थे। एक बार संस्कार पड़ जाने पर बड़ा कठिन हो जाता है। फिर भी यदि ऐसी दृढ़ता रहे कि' एक बार किया तो क्या हुआ, अब जब समझ आ गया है तब फिर नहीं करूँगा'–– तो काम बन सकता है। कितनी सुन्दर, धनवान् बुद्धिमती स्त्रियों के बीच से स्वामीजी चले आये, कोई उन्हें आकर्षित नहीं कर पायी। उलटे वे ही सब को अपनी ओर खींच लाये। कैसी विलक्षण बात है सोचो तो एक बार ! गोविन्द ! गोविन्द !

"अमेरिका में एक स्त्री को देखकर स्वामीजी को लगा कि यह बड़ी सुन्दर है। किसी प्रकार के बुरे भाव से नहीं पर यों ही उसकी ओर और एक बार देखने की उन्हें इच्छा हुई। पर इस बार उन्होंने देखा तो कहाँ

गयी वह सुन्दरी -उसकी जगह एक बन्दरी का मुँह दिखाई दिया। एक higher power (उच्चतर शक्ति) सदैव उनकी रक्षा जो किया करती थी ! और एक बार उन्होंने कहा था कि वैसे उन्हें सपने में कभी कोई स्त्री नहीं दिखायी देती थी, किन्तु एक दिन उन्होंने सपने में एक स्त्री देखी जिसके मुँह पर घूँघट था। वह उन्हें बड़ी सुन्दर प्रतीत हुई। उन्होंने घूँघट हटाकर उसका मुँह देखना चाहा। पर ज्योंही उन्होंने घूँघट हटाया त्योंही देखा वह ठाकुर थे ! स्वामीजी लज्जा के मारे मानो गड़ गये। स्वयं भगवान् यदि रक्षा न करें, तो क्या बचने का मार्ग है ? उनकी कृपा से पहले से ही जिन पर ऐसे संस्कार नहीं पड़ पाये, जिन्हें उन्होंने बचा लिया वे महा भाग्यवान् हैं। वे ही बच सकते हैं, वरना अपने प्रयत्न से इनके हाथ से बचना सम्भव नहीं। वैसे ठाकुर कहते थे, 'तुम्हारी स्पृहा यदि आन्तरिक हो तो माँ सब ठीक कर देगी।' पर स्पृहा आन्तरिक होनी चाहिए—मन में एक और मुँह में दूसरा होने से नहीं बनेगा। दूसरों के सामने भलामानुस बना जा सकता है, किन्तु अपने भीतर जो भाव है, उसे अपने से छुपाना सम्भव नहीं। ठीक ठीक अन्तर से यदि माँगा जाए, तो वे सुनते ही हैं, परन्तु दिखावटी होने से नहीं चलेगा। वीरों की तरह दृढ़ता के साथ कहो—'अब नहीं करूँगा'। तभी तो वे सहायता करेंगे।

"किसी राजा की कहानी है। वह राजा बड़ा

स्त्रैण था। एक दिन उसके किसी मित्र ने उससे इस विषय में कहा। उस दिन से राजा स्वयं को सम्हालने की कोशिश करने लगा। राजा अन्तःपुर में आया पर नितान्त आवश्यक बात को छोड़कर रानी से दूसरी बातें नहीं कीं। वह बड़ा गम्भीर बना रहा। रानी सब समझ गयी। राजा भोजन करने बैठे तो रानी की पाली बिल्ली आकर राजा की थाली में खाने लगी। राजा उसे मार भगाने की कोशिश करता पर वह बार बार आती। तब रानी राजा के कान पकड़कर बोली, 'इसे पहले तो खूब सिर पर चढ़ाया, अब क्या भगाना सम्भव है?' पहले सिर पर चढ़ाने से बाद में फिर खदेड़ा नहीं जा सकता। लगाम अपने हाथ ही में रखना चाहिए, उसे कभी नहीं छोड़ना चाहिए। लगाम छोड़ देने पर फिर उपाय नहीं रह जाता।

"स्वामी जी कहते थे, 'Ready to attach and ready to detach any minute' (जैसे किसी विषय में लिप्त होते हो, वैसे ही उससे अलिप्त भी होने के लिए हर समय तैयार रहो)। हम लोग काम करने जाकर उसी में जकड़ जाते हैं, फिर उससे निकल नहीं पाते। पर यह ठीक नहीं हैं। जब मर्जी तब निकल आ सकना चाहिए। 'सब पड़ा रह जाएगा, कुछ भी तो मेरा नहीं है' यह भाव हरदम बना रहे। ठाकुर को देखो। तय हुआ था कि हृदय को दक्षिणेश्वर से निकाल दिया जाएगा। पर दरबान आकर ठाकुर से ही कहता है,

'आप को यहाँ से चले जाना होगा।' ठाकुर बोले, 'यह क्या रे ? मुझे नहीं, हृदू को।' पर वह बोला, 'नहीं, बाबू का हुकम है, उसको और आपको-दोनों ही को जाना पड़ेगा।' बस, ठाकुर तुरन्त चट्टी पहनकर चल पड़े। बाबू को नौबतखाने से यह दिखायी पड़ा तो वे दौड़े आये और उनके हाथ-पैर पकड़ते हुए कहने लगे, 'यह क्या ? आप क्यों जाते हैं ? आपको तो मैंने जाने को नहीं कहा !' ठाकुर कुछ न कहते हुए लौट आये। देखा ! उनके त्याग में ऐंठ नहीं थी। और हम लोगों के त्याग में कितनी ऐंठ होती हैं। हम होते तो कितनी ही बातें सुना देते, पर वे कुछ नहीं बोले। उनका जाना भी जैसा, आना भी वैसा।

"ठाकुर धोती भी ऐसा पहनते कि एक दिन उनको बगीचे में देख कर एक जन उन्हें माली समझकर बोला, 'अरे, वह गुलाब का फूल तोड़ देना तो।' उन्होंने तुरन्त वह फूल तोड़कर ला दिया। कुछ दिनों बाद उस व्यक्ति को पता चला कि वे ही परमहंसदेव हैं। तब वह लज्जित होकर बोला, 'अफसोस ! आपको उस दिन मैंने फूल तोड़ देने कहा !' ठाकुर बोले, 'तो क्या हुआ ? कोई सहायता माँगे तो उसकी सहायता करनी चाहिए।' समझकर देखो एक बार ! गोविन्द ! गोविन्द ! फिर स्वामीजी की बात सुनो। स्वामीजी जब दूसरी बार न्यूयार्क गये, उस समय का० वहीं था। स्वामीजी को आते देख वह बोला,

'यह आपकी जगह है, आप इसे ले लें।' एक बार कहा, दो बार कहा, पर स्वामीजी ने उस पर कान ही नहीं दिया। जब तीसरी बार का. ने वही बात कही, तो स्वामीजी बोल उठे, यह तुझे दे चुका हूँ, मेरे लिए सारी दुनिया पड़ी है।' कैसा विलक्षण त्याग था स्वामीजी का। उन्होंने सब कुछ गुरुभाइयों को ही दिया-शिष्यों को नहीं। पहले ट्रस्टियों के अन्दर देखोगे सब उनके गुरु भाई ही हैं-शिष्य एक भी नहीं। वे अपना निर्वाह स्वतन्त्र निधि से करते। कहते 'सब दे चुका हूँ।' मुझे एक बार उन्होंने लिखा था, 'मैं तुम लोगों को सब कुछ देकर निश्चिन्त हुआ।' कैसे अद्‌भुत पुरुष थे ! यदि तुम उस देश में जाते, तो उनका influence (प्रभाव) देख पाते ! वे स्वयं ही कहते थे, पाश्चात्य देश में मेरा अधिक कार्य होगा। वहाँ से उसका प्रभाव भारत पर पड़ेगा।

"एक दिन स्वामीजी नाराज होकर मठ से निकल पड़े। जाते हुए बोले, 'तुम सब छोटे मन के हो। भला तुम लोगों के साथ कभी रहना चाहिए ! तुम आलू, परवल, साग, पात पर से झगड़ा करते हो !' पर अन्त में क्या किया? उन छोटे मन वालों को ही सब दे गये। और एक दिन वे बहुत बिगड़ गये। कहने लगे, 'मुझ अकेले को ही नाटक करना पड़ा, गाना-बजाना सभी मुझी को करना पड़ा, और किसी ने कुछ नहीं किया !' हमें तो फटकारा ही, ठाकुर पर भी बड़ा मान किया, उन्हें भी कोसने लगे।

कहने लगे, 'पागल बम्हन, गँवार !–उसके हाथ में पड़कर सारी जिन्दगी ही व्यर्थ चली गयी ।' स्वामीजी की ये सब बातें सुनकर हमें बड़ा दुःख हुआ । परन्तु वे इसके बाद ही कहने लगे, 'असल में क्या है जानते हो ? जो चीज एक बार दे दी गयी, वह तो फिर वापस नहीं ली जा सकती । अनन्त जीवन में से एक यदि उस पागल बम्हन के हाथ सौंपकर नष्ट किया तो क्या !' अब समझो उनका भाव । सुनकर हमारे प्राण मानो शीतल हुए ।

"ये सब बातें जान रखना अच्छा है । कहाँ खाई है, कहाँ खन्दक, कहाँ काँटे हैं कहाँ कंकड़ – यह मालूम रहने पर उनसे बच कर चला जा सकता है । ठाकुर कितनी ही बातें जानते थे । गिरीशबाबू ने एक बार ठाकुर से कहा था, 'आप सभी विषयों में मेरे गुरु हैं –बुरे विषयों में भी ।' इस पर ठाकुर बोले, 'नहीं जी ऐसा नहीं । यहाँ संस्कार नहीं हैं ।' कोई बात स्वयं करके जानने और पढ़कर या देखकर जानने में भारी अन्तर है । करके जानने से उसके संस्कार पड़ जाते हैं । फिर उसके हाथ से बचना कठिन हो जाता है । पढ़कर या देख-सुनकर जानने से यह बात नहीं होती ।"

१० जुलाई, १९२०

महाराज गा रहे थे – 'सभी तेरी इच्छा है माँ, इच्छामयी तारा तुम्हीं . . .।'३ कुछ देर तक गाने के

३. मूल बंगला भजन – 'सकलि तोमारि इच्छा इच्छामयि तारा तुमि ।'

पश्चात् बोले – "यह भाव आजकल बड़ा अच्छा लग रहा है। जितने दिन बीत रहे हैं, यह भाव इतना ही अच्छा लग रहा है। भला-बुरा सब तुम्हीं हो, तुम्हारी ही इच्छा से भला-बुरा सब हो रहा है। प्रभु जिसे ऊपर उठाना चाहते हैं, उसके द्वारा बहुत अच्छे काम करा लेते हैं, फिर जिसे नीचे गिराना चाहते हैं, उसके द्वारा बुरे काम करवा लेते हैं।[४] हाथी को तुम कीच में फँसा देती हो, फिर पंगु से भी पर्वत लँघवा लेती हो।

'गरीब मन का कसूर क्या है ?

बाजीगर–बेटी श्यामा ज्यों नचा रही, नाचे वैसा है।

"यह सोचने पर भी आनन्द होता है कि इसके पीछे एक शक्ति है, जो यह सब कुछ चला रही है। लेकिन युक्तिवादी लोग यह बात नहीं मानेंगे। वे कहेंगे –क्या कारण के न रहने पर कार्य हो सकता है ? पर भगवान् कारण के भी कारण जो हैं।

"पहले मैं भी यह भाव नहीं मानता था। खुब तर्क किया करता था। लाटू महाराज के साथ भी

---

४. इस प्रकार का भाव कौषीतकी उपनिषद के निम्नलिखित वाक्य में दिखायी देता है :–
'एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत। एष एवैनमसाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते ॥

५. मूल बंगला भजन – 'मन गरीबेर कि दोष आछे . . .।'

खूब तर्क होता। मैं जब कहता कि 'भगवान् यदि जो मन आये वही करने लगें, तो फिर तो वे मनमौजी बन जाएँगे। क्या वे रूस के जार की तरह यथेच्छाचारी हैं ? वे तो न्यायपरायण, दयालु, मंगलमय हैं। तो लाटू महाराज कहते, 'यह अच्छा है। तुम अपने भगवान् को इन सब दोषों से बचा रहे हो यह बहुत अच्छा है।' देखो तो, कितना सुन्दर कहते थे वे ! दूसरी ओर से कहते थे न ? किन्तु युक्ति की ओर से देखने पर बहुत तर्क-विचार आ जाता है। Free will (स्वाधीन इच्छा) को वे उड़ा ही देते। किन्तु जब केवल शाब्दिक ज्ञान ही हुआ हो उस अवस्था में ऐसा होने से मुश्किल है। (ठीक ठीक ज्ञान हुआ हो तो) उसकी परख है– पग बेताल नहीं पड़ेंगे। छुटपन में कठपुतली का नाच देखने जाकर जब देखता कि कोई पुतली 'क्याँ क्याँ' कर उठी तो लगता कि सचमुच में वह आवाज कर रही है और अपनी इच्छा के अनुसार नाच रही है। लेकिन बाद में देखा, अरे, उसे तो आड़ से कोई और ही नचा रहा है।

'सब कुछ महामाया की इच्छा से हो रहा है यह भाव आजकल मुझे बड़ा अच्छा लग रहा है। इतना सुन्दर लग रहा है कि क्या बताऊँ ! मन मान गया है न, इसीलिए अब ऐसा हो रहा है। स्वामीजी भी आखरी दिनों में महामाया पर खूब विश्वास करने लगे थे। 'यन्त्रवत्' हो जाना–यह केवल मुँह से कहने से ही तो

नहीं हो जाता। महामाया का अनुगत बने रहने पर वही रक्षा किया करती है। उम्र हो जाने पर एक समय ऐसा आता है जब कार्य-कारण की ओर से न जा महामाया पर निर्भर रहने का भाव आ जाता है। गोविन्द, गोविन्द ! भगवान् भगवान् !"

रविवार, दि ११ जुलाई, १९२०

आज जनसमागम रोज की अपेक्षा कुछ कम हुआ है। बात बात में महाराज मानव-परिवार के विषय में बोलने लगे—"यद्यपि सत्ययुग कभी आएगा या नहीं इसका कोई ठिकाना नहीं, फिर भी यह आदर्श कुछ बुरा नहीं है। कवि (सुरेन्द्रनाथ मजुमदार) ने कहा है संसार में ऐसा होना तभी सम्भव हो सकता है, जब पुरुष स्त्री-प्रकृति के बन जाएँगे।' सुरेन्द्र मजुमदार ने भी खूब लिखा है। बड़ा सुन्दर है उनका लेखन। तुम लोग तो सुनकर हंस रहे हो, पर मैंने यह बचपन मे ही पढ़ा था – मैं नहीं हँसा।

"इसमें स्त्रियों के कोमलभाव की ही बात कही गयी है।"

एक भक्त – निर्बलता से तो आशय नहीं है न ?

महाराज – हरगिज नहीं। क्या इसमें भी कोई सन्देह हो सकता ? कवि कहते हैं –'भारवाही पुरुष का इतना अहंकार।' पुरुष तो भार ढो-ढोकर मरते हैं। स्त्रियों की तरह बनना क्या सरल है ?

भक्त – महाराज, 'स्त्रियाँ नरक की द्वार हैं' इस

प्रकार की बातें तो सभी पुरुष कहा करते हैं। पर यदि स्त्रियाँ लिखतीं, तो वे भी खूब लिखतीं कि 'पुरुष नरक के द्वार हैं।'

महाराज – ऐसा तो होगा ही। देखते नहीं उन (बिहारी) देशों में स्त्रियाँ कैसा उत्तर दे रही हैं। शास्त्रों में सभी स्त्रियों को लक्ष्य कर यह बात नहीं कही गयी। वहाँ तो विद्या-स्त्री और अविद्या-स्त्री का भेद किया गया है। ठाकुर भी इसी प्रकार कहा करते थे। जो स्त्री पति को सदा विषयों की ओर खींचती जाती है, वही अविद्या-स्त्री है; और जो उसे भगवान् की ओर जाने मे सहायता करती है, वह विद्या-स्त्री है। अविद्या–स्त्री के बारे में वे सब बातें कही गयी हैं। केवल विषयों की ओर खींच ले जाना क्या अच्छा है?

"इसीलिए शास्त्र कहते हैं–'स्त्रीणाँ स्त्रीसंगिनां संगं त्यक्त्वा दूरतः' (स्त्रियों एवं स्त्री-सहवास करनेवालों का संग दूर से ही छोड़ते हुए) अवस्थान करे। देखो न, संगदोष से मनुष्य कैसा हो जाता है! जब हम लोग स्कूल में पढ़ते थे, उस समय कुछ लड़के घर लौटते समय शराबियों का ढोंग करते हुए अफीमचियों के अड्डे में घुसा करते थे, क्योंकि शराबी को देखने पर अफीमची बड़े घबड़ाते हैं। ऐसा करते करते उनमें से एकजन बड़ा अफीम-खोर बन बैठा। भला देखो तो कैसी विचित्र बात है।

"संस्कार एक बार पड़ जाने पर क्या फिर मिटना चाहता है? संस्कार क्या हैं और वे कितने भयंकर हैं

यह जान रखो। कभी कभी निद्रावस्था में इन संस्कारों के अद्‌भुत कार्य दिखायी देते हैं। अँगरेजी में इसे सोम्नाम्बुलिजम (Somnambulism) यानी स्वप्नसंचरण कहते हैं। एक बार स्वामीजी ने इस विषय में अनेक बातें बतायी थीं। एक मेमसाहब नींद में कब्रें खोल वहाँ की वस्तुएँ ला-लाकर बिछौने के नीचे रखा करती थी। नींद खुलने पर उसे इस विषय में कुछ भी ज्ञान न रहता। एक लड़की को अक्षर परिचय तक न था, किन्तु वह नींद में बढ़िया पाण्डित्यपूर्ण भाषण देती थी। हमारे देश में ऐसा होने पर लोग कहते कि इस पर किसी देवी-देवता का आवेश हुआ है। पाश्चात्य देश था इसलिए गवेषणा शुरू हो गयी। अन्त में पता चला कि दस-बारह वर्ष पहले वह किसी वैज्ञानिक के यहाँ नौकरानी थी। उस वैज्ञानिक को भाषण देने और जोर से पढ़ने की आदत थी। कार्य कारण सम्बन्ध स्पष्ट हो गया।

"कलकत्ते में एक बड़ा अच्छा लड़का—चरित्रवान्, विद्वान्, बुद्धिमान् लड़का—पतिताओं का भला करने के काम में लगा। होते होते एक लड़की ने उसके आगे अपना दुखड़ा रोकर उसे पिघला डाला। अन्त में वह लड़की उसी के गले आ पड़ी। ऐसी बातों में अतिसाहस नहीं करना चाहिए—कौन जाने कब पटका खा जाय!

"मैं और एक घटना जानता हूँ जो अति आश्चर्य-कारक है। यह किताब में पढ़ी बात नहीं हैं, यह बिलकुल आँखों—देखी बात है। एक बँगाली साधु था—बड़ा त्यागी।

बी. ए. पास था। स्वामीजी के साथ पढ़ता था, इसी से हम लोगों में भी मित्रता थी। उसे वड़ा अहंकार था कि मैं कामजित् बन गया हूँ। किसी को कुष्ठ या गुप्त रोग आदि से पीड़ित देख वह भीख माँगकर भी उसकी सेवा शुश्रूषा करता। वह हमसे कहता 'तुममें अकेले स्वामीजी के ही दिमाग है, भले ही तुम सब साधु हो सकते हो, पर तुममें से किसी के दिमाग नहीं है।' शास्त्रादि को वह नहीं मानता था। कहता था, 'हम यदि लिखें तो वह भी शास्त्र ही होगा।' खूब तर्क करता था। बड़ा साहसी भी था। लोगों ने उसे बहुत बढ़ा-चढ़ा दिया। वैसे उसमें गुण भी बहुत थे। एक बार इलाहाबाद में उससे मेरी मुलाकात हुई। उसने मुझसे अपने पतन के बारे में सब बातें खुल्लमखुल्ला बतायीं। मैं बोला, 'इस ढलती उम्र में तू यह क्या कर बैठा रे मूर्ख!' भला देखो कैसी विचित्र बात है! लज्जा-संकोच कुछ नहीं-सब बातें मुझे बता दीं। कहा, 'एक औरत ने जबरदस्ती आकर यह सब काण्ड किया। मैंने भी सोचा कि मुझमें काम भाव नहीं आएगा, पर आखिर यह सब हो ही गया।' मैं बोला, 'अरे मूर्ख, तू उसे दूर भगा नहीं सका!' अहंकार के ही कारण उसका पतन हुआ। ऐसे विषयों में साहस दिखलाना बिलकुल उचित नहीं। इसीलिए तो कहा है--'स्त्रीणां स्त्रीसंगिनां संगं त्यक्त्वा दूरतः' "

(क्रमशः)

भगिनी निवेदिता

स्वामी मुख्यानन्द पुरी

(आचार्य, प्रोबेशनर्स ट्रेनिंग सेंटर, बेलुड़ मठ)

पराधीन भारत की सेवा में विदेशों के कई नर-नारियों ने अपना जीवन उत्सर्गित किया। इन सबमें शीर्ष स्थान मिस मार्गरेट एलिजाबेथ नोबल का है, जो कालान्तर में भगिनी निवेदिता के नाम से जगद्विख्यात हुई। मूर्तिमान-भारतवर्ष स्वामी विवेकानन्द ने भारत-माता की वेदी पर निवेदन कर उसका नाम निवेदिता रखा और निवेदिता ने अपना तन-मन-प्राण भारत-माता के चरणों में अर्पित कर अपना नाम सार्थक किया। निवेदिता का अनोखापन यह था कि जहाँ अन्य भारत प्रेमी विदेशियों ने अपने विदेशी व्यक्तित्व को कायम रख भारत की सेवा की, निवेदिता पूर्णतया भारत से घुलमिल गयी। वह तो भारत को अपना देश तथा भारत की जनता को अपना स्वजन मानती थी।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा है, 'वह जब *हमारे लोग* शब्द का प्रयोग करती, तो उसमें इतनी आत्मीयता भरी रहती कि हमारे या अन्य किसी के कहने से कर्ण को वैसा स्पर्श न होता' और क्यों नहीं, स्वामी विवेकानन्दजी का मतवाला भारत-प्रेम उसे विरासत में प्राप्त हुआ था। वह उनकी प्रधान शिष्या तो थी ही, पर साथ ही यह भी सत्य था कि स्वामीजी की आत्मा उनके देहत्याग

के बाद निवेदिता के द्वारा ही अभिव्यक्त हो रही थी। निवेदिता ने स्वयं कहा है, 'वे मरे नहीं, वे सदा हमारे साथ हैं, मुझे उनके जाने का दुःख तक नहीं है; मैं केवल कर्मरत होना चाहती हूँ।'

और वह सारा जीवन भारतमाता की सेवा का व्रत धारण किये रही। भारतमाता के सपूतों को उठाकर, उनमें अदम्य शक्ति जगाकर, वह अन्त में जब सो गयी, तो जनता ने दार्जिलिंग में उसकी समाधि पर इन वचनों को अंकित कर अपनी कृतज्ञता बतायी –

"इस स्थान पर रामकृष्ण–विवेकानन्द की अनुगता भगिनी निवेदिता की अस्थियाँ शान्तिलीन है, जिसने भारत के लिए अपना सर्वस्व अर्पित किया।"

मार्गरेट का जन्म २८–१०–१८६७ को आयरलैण्ड के एक धर्मभीरु सदाचारी परिवार में हुआ था। उसके पूर्वज स्काटलैण्ड के थे। करीब पाँच सदियों से आयर-लैण्ड में बसे हुए थे। उसके पिता सैम्युएल रिचमाँड नोबल इंग्लैंड आकर डेवेनशायर के चर्च में पादरी का काम करने लगे। वे बड़े धर्मात्मा थे तथा गरीबों की सेवा में रत रहते थे। उनकी ३४ साल की उम्र में ही मृत्यु हो गयी। मार्गरेट ने अपनी माँ मेरी इसाबेल के साथ रहकर आयरलैंड में ही अपना स्कूल–कालेज का विद्याभ्यास पूरा किया। उसने संगीत कला तथा भौतिक विज्ञान में शिक्षा प्राप्त की। १७ साल की आयु में इंग्लैंड आकर वह कई स्थानों पर सात साल

तक अध्यापिका का काम करती रही। इस बीच उसने पेस्टालाजी की नयी शिक्षण-पद्धति अपना ली तथा उस पद्धति से नाना प्रकार के प्रयोग किये। १८९२ में उसने स्वयं अपना एक स्कूल लन्दन के परिसर विम्बलडन में खोल उसे 'रस्किन स्कूल' के नाम से चलाया, जो बहुत ख्यातिप्राप्त हुआ। उसने शीघ्र ही विद्वत्-समाज में एक प्रगतिशील शिक्षाविद् के रूप में अपना स्थान बना लिया।

मार्गरेट बचपन से ही बड़ी कुशाग्रबुद्धि तेजस्वी लड़की थी। एक बार भारत से आये एक पादरी मित्र ने उसके पिताजी से कहा था कि जब वह बड़ी होगी, भारत जाकर वहाँ की जनता की सेवा करेगी। मार्गरेट की जीवनधारा क्रमशः इसी तरफ मुड़ गयी। वह जैसे जैसे बड़ी होती गयी, उसका व्यक्तित्व निखरने लगा। उसका कद मध्यम ऊँचाई का, बाल सुनहले धूसर, आँखें नीली, तन दमकता तथा मुख मन्दस्मित था। बचपन की निष्ठावान् विद्यार्थिनी अब एक ध्येयनिष्ठ, स्वबुद्धि-चालित, आकर्षक तथा प्रभावशाली युवती बन गयी थी। वह स्वाभिमानी, उदार, फुर्तीली तथा दृढ़ता से भरी थी। वह अपने ज्ञान को विद्यार्थियों को देकर उनमें उत्साह भर सकती थी। वह मातापिता के समान धर्मनिष्ठ तथा सेवापरायण थी। ईसामसीह के प्रति उसका प्रेम था, जिन्होंने जनता के लिए अपने प्राण निछावर किये थे।

लेकिन प्रखर बुद्धिसम्पन्न मार्गरेट के मन में आधु-

निक ज्ञान-विज्ञान के कारण नाना प्रकार की विचार-तरंगे उमड़ने लगीं। उसे चर्च की कट्टरता तथा संकीर्णता न भायी। सत्य को तथा भगवत्-तत्व को विचार तथा युक्ति की कसौटी पर कसकर देखना चाहती थी, न कि केवल कर्मकाण्ड पर। अपने को चर्च के पादरियों के हाथ सौंपना उसे पसन्द नहीं था। जैसे जैसे उसकी सत्य-निष्ठा बढ़ती गयी, धीरे धीरे उसकी चर्च के प्रति आस्था घटती गयी। उसकी आत्मा सत्यवस्तु को जानने के लिए तड़पने लगी। उसे यह लगने लगा कि केवल कुछ धार्मिक विश्वासों पर ही धर्म निर्भर नहीं करता, अपितु सत्य के साक्षात्कार पर, जीवन में सत्य के उतारने पर।

यह एक नैसर्गिक नियम है कि हम जिस चीज को तीव्र हृदय से चाहते हैं, वह हमें प्राप्त होकर ही रहेगी। मार्गरेट को बुद्ध की जीवनी पढ़ने को मिली। भगवान् बुद्ध का त्यागमय, करुणापूर्ण जीवन तथा उनके उदात्त विचारों ने उसे प्रभावित किया। ईसा के दिव्य ज़ीवन का प्रतिबिम्ब बुद्ध में नजर आया। बुद्ध की विचार-धारा उसे अधिक युक्तिसंगत तथा सटीक लगी। लेकिन फिर भी उसको तृप्ति नहीं हुई। उसके मन के संशय दूर नहीं हुए। उसकी आत्मा को शान्ति नहीं मिली। जब मार्गरेट इस अवस्था में से गुजर रही थी तथा सत्य की खोज में लालायित होकर प्रकाश के लिए सर्वत्र ढूँढ़ रही थी, उस समय विवेकानन्दरूपी भास्कर लन्दन के गगन पर उदित हुआ। 'अमेरिका

से आयें हुए एक महान् हिन्दू योगी' की खबर उसे मिली। यह हिन्दू योगी थे भारत-पुत्र स्वामी विवेकानन्द, जिन्होने १८९३ में शिकागो विश्व धर्म सम्मेलन में भारत की स्वर्णिम धर्म-पताका सबसे ऊची फहरायी थी, तथा ज़ो अमेरिका की जनता को अपनी ओजस्वी वाणी से मन्त्रमुग्ध कर अब यूरोप की जनता के उत्साह पूर्ण आह्वन पर अमेरिका से आये हुए थे।

१८९५ का नवम्बर का महीना था। लेडी इसाबेल मार्गेसन के घर पर विवेकानन्द की वाणी को सुनने के लिए लोग एकत्र हुए थे। मार्गरेट भी आमंत्रित होकर आयी हुई थी। स्वामीजी को देखा, सुना। उसके हृदय में कुछ अनोखी हलचल हुई।' लेकिन स्वाभिमानी मन ऊपर से इसे मानने को राजी नहीं था। वह बोल उठा—'इसमें नूतन क्या है? लेकिन घर जाने पर अन्तर्मन कहने लगा, 'नहीं, इसमें कुछ अनोखी विशेषता है।' उसके पैर अपने आप उसे स्वामी जी के प्रवचन सुनने ले जाने लगे। अब वह बड़े गौर और निष्ठा से सुनने लगी। उनके विचारों के साथ उसके अपने संचित विचार तथा स्वबुद्धि पर अभिमान का अन्तर्द्वन्द्व जारी रहा। यद्यपि मार्गरेट दिनोंदिन स्वामीजी के दिव्य जीवन तथा उदात्त विचारों से अधिकाधिक प्रभावित होती चली, फिर भी अपने को पूर्णतया सौंपने को तैयार नहीं थी।

लेकिन आखिर वह दिन आया। मार्गरेट ने पूरे

साल तक निरीक्षण कर अनुभव किया कि स्वामीजी कोई एक महान् वाग्मी धर्मोपदेशक ही नहीं, बल्कि वे एक त्यागी महापुरुष हैं, जो जगत् कल्याण के लिए, लोगों के दुःख दूर करने के लिए उदित विवेक-भास्कर हैं। स्वार्थ, लोभ इत्यादि दुर्गुणों को दूर करके जनता में परस्पर सौहार्द तथा सेवाभाव को जाग्रत् करने आये हैं।' उनके अस्त्र थे भगवान् में परमभक्ति, लोक-प्रेम, त्याग, तपस्या एवं सेवा। स्वामीजी एक दिन प्रवचन के बीच स्फुरित होकर गरज उठे—

"जगत् को अब ऐसे दस-बीस नर-नारियों की आवश्यकता है, जो सर्वस्व त्याग कर रास्ते पर खड़े होकर हाथ उठाये कह सकते हैं कि 'भगवान् ही हमारा सर्वस्व है'। क्या कोई जाने को तैयार है?" मार्गरेट की हृदय-वीणा बज उठी: मैं जाऊँगी। अवश्य जाऊँगी। जनता-जनार्दन की सेवा में अपना सर्वस्व न्योछावर कर दूँगी।' स्वामीजी ने मार्गरेट का भाव ताड़ लिया। एक पत्र में उन्होंने मार्गरेट को लिखा—"जगत् धीरतम तथा अत्युत्तम व्यक्तियों का बलिदान चाहता है—बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय। प्रेम तथा करुणा से प्रेरित सैकड़ों बुद्धों की अब जगत् को आवश्यकता है।" फिर और एक बार प्रवचन के बीच मार्गरेट की तरफ मुड़कर कहा—"मेरे देश की महिलाओं की उन्नति के लिए मेरी कुछ योजनाएँ हैं। मुझे लगता है कि तुम इस कार्य में मुझे बहुत सहायक सिद्ध होगी।"

मार्गरेट का मन सहसा आलोकित होकर शान्ति से भर उठा। अन्धकार हट गया। हृदय आनन्द से पुलकित हुआ। सत्य की छटाओं ने उसके सर्वांगों को उज्जवल कर दिया। तन तेजोयुक्त हुआ। उसकी जीवन की दिशा स्पष्ट हो उठी। अन्तर्द्वन्द्व मिट गया। उसने तत्काल भारत माता की सेवा के लिए अपने को पूर्णतया समर्पित कर दिया।

स्वामीजी दिसम्बर १८९६ में भारत के लिए रवाना हुए। एक पत्र में मार्गरेट को भारत की स्थिति के बारे में स्पष्ट किया—"यहाँ को गरीबी, गन्दगी, सामाजिक कुसंस्कार, पाश्चात्य महिला होने के नाते उसके प्रति स्वाभाविक अविश्वास, गोरे शासकों की संशय भरी दृष्टि तथा धिक्कार यहाँ की असहनीय गर्मी-इन सब कठिनाइयों का सामना करते हुए, कष्ट भोगते हुए क्या तुम भारत माता की सेवा हेतु आने को कटिबद्ध हो ?" स्वामीजी ने लिखा—मैं तो आमरण तुम्हें साथ दूँगा। चाहे तुस आओ या नहीं भी आओ, वेदान्त का पुरस्कार करो या तिरस्कार। 'मरद की बात, हाथी के दाँत।' वे आगे बढ़कर कभी पीछे नहीं हटते।"

मार्गरेट का निश्चय दृढ़ था। उसका जीवन अन्दर से बदल चुका था। २८ जनवरी १८९८ को वह भारत आयी। कलकत्ता के नौ-घाट पर स्वामीजी ने स्वयं उसका स्वागत किया। एक सप्ताह चौरंगी में कुछ

अंग्रेज परिचितों के साथ रह नगर के हिन्दू मोहल्लों का निरीक्षण किया। दो-चार दिनों में ही स्वामीजी की और दो अमरीकी शिष्याएँ भारत आयीं। अब तीनों गंगा किनारे बेलुड़ मठ के अतिथिगृह में रहने लगीं। स्वामीजी नित्यप्रति उनको भारत का इतिहास, संस्कृति, धर्म-दर्शन, आचार, विचार, सामाजिक जीवन, पारिवारिक जीवन, भारतीय महीयसी महिलाएँ इत्यादि विषयों के बारे में सुनाते रहे। मार्गरेट ने अपने को भारत-महिला के ढाँचे में रखने का आन्तरिक निश्चय किया। निश्चय करना तो आसान था। लेकिन अपने अंग्रेंजी व्यक्तित्व को त्यागकर भारतीय व्यक्तित्व को अपनाना उतना सहज नहीं था। स्वामीजी जानते थे कि सेवक जब तक सेव्य के साथ तन्मय नहीं हो पाता, तब तक वह ठीक ठीक सेवा नहीं कर सकता। सबसे बड़ा और कठिन त्याग है अपने पुराने व्यक्तित्व का, अपनी अहमिका का। इसकी संसिद्धि के लिए काफी समय तथा परिश्रम लगता है और नया व्यक्तित्व सधने तक टूटते हुए पुराने व्यक्तित्व के कारण मर्मान्तक वेदना तथा निराशा को झेलना भी पड़ता है। अब स्वामीजी अपनी परम शिष्या के इस परिवर्तन के कार्य में लग गये।

मार्च ११, १८९८ के दिन स्वामीजी ने एक सभा बुलाकर मार्गरेट नोबल का परिचय कराते हुए कहा "यह इंग्लैंड से भारत के लिए और एक देन है, जिससे

हम बहुत कुछ पाने की अपेक्षा कर सकते हैं।" उत्तर में मार्गरेट ने 'इग्लैंड पर भारत के आध्यात्मिक विचारों का प्रभाव' विषय पर भाषण दिया तथा अपनी ओजस्वी वाग्धारा से सभी का मन हर लिया। वह स्वयं अपने भाषण का मूर्तिमान दृष्टान्त थी।

मार्च १७ को स्वामीजी ने उस रामकृष्ण-संघ-जननी परमाराध्या श्री सारदा माता के दर्शन करवाये। वह सारदा देवी के प्रेममय, मातृस्नेहपूर्ण, शान्त, निर्मल, देवीतुल्य व्यक्तित्व से बड़ी प्रसन्न हुई। माँ की वह 'खखी' (शिशु) बन गयी और बड़ी आश्वस्त हुई। भारतमाता की सुपुत्री बन गयी।

मार्गरेट के मन की उचित अवस्था देख स्वामीजी ने निश्चय किया कि उसे भारतमाता के चरणों में निवेदित कर दें। मार्च २८,१८९८ शुक्रवार के दिन स्वामीजी ने उसे मन्त्रपूत करके दीक्षान्वित किया। शुभाशीर्वाद के उपलक्ष में उसके नतमस्तक पर हाथ रखा। वह भारतसेवा-व्रतधारिणी 'निवेदिता' में परिणत हुई। मार्गरेट सदा के लिए विलुप्त हो गयी।

शीघ्र ही स्वामीजी उसे अपने अन्य महिला-शिष्यों के साथ देव-दर्शन के लिए ले चले, जिससे वह भारत और उसकी जनता से परिचित हो, जिसकी सेवा उसे करनी थी। हिमालय का भ्रमण हुआ। भारत के मुख्य तीर्थस्थानों की यात्रा की। प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थानों का निरीक्षण किया। प्रवास में बनारस, दिल्ली, आगरा,

अलमोड़ा, काश्मीर, अमरनाथ सभी सम्मिलित हुए। स्वामीजी उनके बारे में स्फूर्तिदायक वर्णन करते। निवेदिता के कण कण में, रोम रोम में भारत भर गया। वह अब परम तपस्विनी भगिनी निवेदिता बन गयी। यात्रा से लौटते ही उसने स्वामीजी के महदुद्देश्य की पूर्ति के लिए, भारत की नारी-शक्ति के जागरण के लिए सर्वप्रथम नवम्बर १८९८ में कलकत्ता के बाग-बाजार मोहल्ले में, श्री माँ के निवासस्थान के निकट ही, एक लड़कियों की पाठशाला खोल दी। अपने कार्य के शुभ श्रीगणेश के लिए श्री माँ का आशीर्वाद लिया। उसे चलाने में उसे बहुत प्रकार की सामाजिक तथा आर्थिक कठिनाइयों को झेलना पड़ा। समाज कट्टर था। स्त्री-शिक्षा की प्रथा नयी थी। फिर वह ठहरी गोरी परदेशी। लेकिन वह धीरज नहीं हारी। आगे चलकर स्वामीजी की अमरीकी शिष्य भगिनी क्रिस्टीन ने उसे स्कूल चलाने में अपना सहयोग दिया। उसकी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निवेदिता ने अमेरिका, इंग्लैंड आदि विदेशों में दौरा लगाया और भारत के लोग, उसकी संस्कृति, स्त्री-शिक्षा की आवश्यकता, अपनी पाठशाला इत्यादि विषयों पर ओजस्वी भाषण दे वहाँ के लोगों की नैतिक तथा आर्थिक सहानुभूति प्राप्त की। साथ मिशनारियों के द्वारा लोगों में जो भारत के बारे में भूल धारणाएँ प्रसारित की गयी थीं उनका भी निरसन किया। उसके फुर्तीले भाषणों को सुनकर वहाँ

के पत्रकार तक प्रभावित हुए । समाचार-पत्रों में 'भारत की चैम्पियन' के रूप में उसका वर्णन किया गया ।

पश्चिम से लौटने के बाद निवेदिता ने कुछ दिन श्री सारदा माँ तथा श्रीरामकृष्णदेव की अन्य शिष्याओं के साथ बागबाजार के उनके निवासस्थान पर बिताये और हिन्दू पारिवारिक जीवन का अनुभव प्राप्त किया । वह भारतीय महिलाओं की सादगी तथा संयत व्यवहार, कोमलता तथा प्रेमभाव, कायदक्षता, घरों में परस्पर के प्रति लगन इत्यादि गुणों को देख बड़ी प्रभा-भावित हुई । अपनी पुस्तकों में निवेदिता ने पाश्चात्य जगत् के लिए भारतीय पारिवारिक जीवन का सुन्दर चित्र खींचा है। ('Web of Indian Life' पुस्तक देखिए ।)

निवेदिता ने अपनी शाला को राष्ट्रीय ढाँचे पर गढ़ा । वह चाहती थी कि भारत की लड़कियाँ श्री सारदादेवी के आदर्श जीवन के आलोक में एक बार फिर से प्राचीन युग की गार्गी, मैत्रेयी, सीता, सावित्री जैसी महती नारियों के समान महान् बनें और देश को उज्जवल करें। कालक्रम में उसकी शाला सर्वतोमुखी प्रवर्धमान होकर 'भगिनी निवेदिता महिला विद्यालय' के नाम से एक आलोक स्तम्भ बन गयी । प्रसिद्ध इति-हासकार श्री जदुनाथ सरकार ने लिखा है कि 'निवेदिता की पाठशाला हम सब का एक आदर्श ज्योति-केन्द्र बन गयी थी ।'

स्वामीजी जून १८९९ में जब द्वितीय वार पश्चिम

की यात्रा पर गये, तब निवेदिता ने भी अपने स्कूल के धनसंग्रह के लिए उनके साथ ही प्रवास किया था और कुछ समय उनके साथ ही थी। उसके दौरान स्वामीजी दी थी। उन्होंने उसको ने उनमें भारत की महत्ता की भावना कूट-कूटकर भर अंग्रेजी में एक आशीर्वाद-गीत भी भेजा था, जिसका भावानुवाद यों होगा—

माँ का हृदय, वीर की दृढ़ता,
मलय-पवन की मधुता
ज्वलन्त आर्य-वेदी की पावन
शक्ति और मोहकता
ये वैभव सब, अन्य और जो
जन के स्वप्न बने हों—
तुम्हें सहज ही आज प्राप्त हों
(निश्छल भाव सने हों।)
भारत के भावी पुत्रों की
गूँजे तुममें वाणी
मित्र, सेविका और बनो तुम
मंगलमय कल्याणी।

स्वामीजी के देहत्याग के बाद निवेदिता ९ साल तक देश की सेवा करती। वह भारतीय जीवन के सर्वतोमुखी उत्थान के लिए कटिबद्ध वीर संन्यासिनी हुई। केवल अपने अन्तर को ही नहीं वरन् अपनी वाह्य वेश-भूषा तथा बोल-चाल में भी उसने यथोचित परिवर्तन कर लिया था। वह एक लम्बा सा चोगा पहनती, जिस

पर कटिवस्त्र बाँधती और गले में त्याग-वैराग्य का प्रतीक रूद्राक्ष की माला। अपने लोगों को सदा वह 'अपने भारत' के बारे में स्फूर्ति से बताती। अब वह शिक्षण-क्षेत्र के अलावा सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में भी कूद पड़ी। भारत की कला, संस्कृति तथा नैतिकता के उत्थान के लिए वह दृढ़व्रत हुई। अपने शक्तिशाली भाषणों, स्फूर्तिदायक लेखों तथा विचारगर्भित आदर्शसूचक पुस्तकों के द्वारा उसने भारत की जनता को झकझोर कर जाग्रत किया। सरकार से वह टकरायी। वह किसी भी हालत में विदेशी अधिकारी या गोरे लोगों के द्वारा भारत का अपमान नहीं सह सकती। उत्तेजित सिंहनी के समान गरज उठती थी। उनके लिए भारत का सुख-दुःख अपना सुख-दुःख था। भारत का अपमान अपना अपमान था। भारत का गौरव अपना गौरव था। क्या वह विवेका-नन्द की वीर शिष्या, भारतमाता के चरणतल मे समर्पित निवेदिता नहीं थी ?

अचिरात् निवेदिता का व्यक्तित्व सभी के लिए आकर्षण का केन्द्र बन गया। क्या राजनीतिज्ञ, क्या समाज सुधारक, क्या कलाविद्, क्या वैज्ञानिक, क्या शिक्षाशास्त्री, क्या ऐतिहासिक, क्या अर्थशास्त्री, क्या उद्योगपति, क्या प्रौढ़, क्या नवयुवक-युवतियाँ—उस समय के देश के सभी नामी लोग उसके देशप्रेमपूर्ण, स्वाभिमानयुक्त, ओजस्वी विचारधारा से प्रभावित

हो अपने अपने क्षेत्र में उससे निर्देशन पाने के लिए उसके पास हमेशा आया करते। उसका निवास उन सबके परस्पर मिलने का केन्द्रस्थान बन गया। वह सबको अपनाती, अपने अविराम आदर्श जीवन से उनमें उत्साह भरकर अनुप्राणित करती। देश को स्वाधीन बनाकर, उसकी प्राचीन गरिमा को सर्वतोमुखी बढ़ाकर फिर से भारतमाता को 'श्रीमत् सिंहानेश्वरी' बनाने के लिए प्रोत्साहन देती। निवेदिता का नाम एक मंत्र बन गया। सरकार के उच्च अधिकारी भी उसकी कद्र करने लगे। उस स्वार्थहीन, सेवापरायण, तेजोमय त्याग मूर्ति का सम्मान किये बिना भला कौन रह सकता था? लेकिन इतना बड़ा स्थान प्राप्त करने पर भी वह सदा भारत की क्रीत दासी के समान ही रही। उसने स्वयं को पीछे रखकर देश की जनता को, देश के कुशल नर नारियों को सभी क्षेत्रों में आगे बढ़ाया। देश की एकता तथा महानता का गीत गाया।

इस प्रकार देश की सेवा में तल्लीन निवेदिता ने १३ अक्टूबर १९११ को दार्जिलिंग में अपना शरीर त्याग दिया। अन्तकाल में भारतमाता का उज्जवल भविष्य चित्र उसके मनश्चक्षु के सामने उभर आया। माँ के चरणों में नतमस्तक हो उसने चिरसमाधि में अपनी आँखें मूँद ली। देश शोकाकुल हुआ। जनता ने उसके अद्‌भुत जीवन का स्मरण कर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की। उनमें से कुछ वाक् पुष्प यहाँ उद्धृत

करते हुए हम भी निवेदिता की पुण्य स्मृति में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करें।

उच्चकोटि के राजनीतिक नेता गोपालकृष्ण गोखले ने कहा–"वह भारत का आह्वान सुनकर हमारे बीच आयी। वह आयी भारत से मोहित होकर, वह भारतमाता को अपने हृदय की पूजा समर्पित करने आयी।" हमारे सामने जो महत्काय हैं, उसमें भारत के पुत्र-पुत्रियों के बीच अपना स्थान लेने आयी।"

देश भक्त क्रान्तिकारी रासबिहारी घोष ने कहा–"एक बात मैं दृढ़तापूर्वक कह सकता हूँ कि आज यदि हम जागृत राष्ट्रीय जीवन की भावना से प्रेरित हैं, तो इसमें निवेदिता की वाणी का श्रेय कोई कम दर्जे का नहीं है। ... निवेदिता ने भारत की शुष्क हड्डियों को अनुप्राणित किया!"

महात्मा गाँधी ने कहा–"मैं उसका हिन्दूधर्म के प्रति जो असीम प्रेमप्रवाह था उसका बखान बिना किये नहीं रह सकता।"

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा–"निवेदिता हमारे गौरव की पात्री इसलिए नहीं है कि वह एक हिन्दू थी बल्कि इसलिए कि वह महान् थी। हम उसे न केवल इसलिए सम्मान के योग्य समझते हैं कि वह हमारे जैसी थी, बल्कि इसलिए कि वह हम लोगों से महत्तर थी।"

❁

शिक्षा के क्षेत्र में

रामकृष्ण मिशन की भूमिका

स्वामी वीरेश्वरानन्द

(रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, पुरुलिया, पश्चिम बंगाल की रजत जयन्ती के अवसर पर ८ फरवरी १९८२ को उसका शुभारम्भ करते हुए रामकृष्ण मठ–मिशन के अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्द महाराज ने बँगला में जो भाषण दिया था. प्रस्तुत लेख उसी का अनुवाद है–स)

आज एक प्रकार से हम लोगों के लिए 'thrice blessed day' (त्रिबारपुण्य दिवस) है, क्योंकि आज से इस प्रतिष्ठा की रजत-जयन्ती का शुभारम्भ हो रहा है, फिर आज ही ठाकुर (श्रीरामकृष्ण) की संगमर्मर मूर्ति की मन्दिर में प्रतिष्ठा हुई और फिर आज स्वामी तुरीयानन्दजी का जन्म-दिवस भी है।

इस प्रतिष्ठान की गतिविधियों के बारे में आपने सुना है। उसमें कहा गया है कि यहाँ पर स्वामीजी (विवेकानन्दजी) के आदर्श के अनुसार छात्रों को शिक्षा देने की चेष्टा की जा रही है। हम लोग आजकल चारों ओर केवल अन्धकार ही देख रहे हैं। समाज के सभी स्तरों पर सत्यता का अभाव दिखायी दे रहा है, सर्वत्र चोरबाजारी और कालाधन से मानो समाज भर भर गया है। ऐसा क्यों ? उत्तर में एक बात कहूँगा। जब स्वामीजी अमेरिका से भारत लौटे, तब दक्षिण में एक स्थान पर कुछ लोगों ने स्वामीजी से कहा–स्वामीजी,

आप राजनीति में आइए देश को स्वाधीन कीजिए, फिर धर्म-वर्म की बात चले। स्वामीजी ने इसका उत्तर देते हुए कहा था —मैं तुम लोगों को कल ही स्वाधीनता दिला सकता हूँ, पर क्या तुम लोग उसे बचाकर रख सकोगे ? तुम लोगों में 'मनुष्य' कहाँ हैं ? पहले 'मनुष्य' तैयार करो, फिर उसके बाद स्वाधीनता की बात सोचो। आज हम लोग समझ पा रहे हैं कि उन्होंने कितनी सही बात कही थी। हमारे देश की यह दुरवस्था क्यों है ? इसलिए कि 'मनुष्य' नहीं हैं। मनुष्य क्यों नहीं है ? पहले तो भारतवर्ष में कितने मनीषी लोग थे, बड़े बड़े त्यागी महापुरुष थे, बड़े बड़े सम्राट् थे, पर आज ऐसी अवस्था क्यों हो गयी है ? उत्तर में कहूँगा कि मूल में ही गड़बड़ी है। हम लोग जो शिक्षा पाते हैं, उससे किसी प्रकार 'मनुष्य' तैयार नहीं हो सकता—चरित्रवान् मनुष्य नहीं तैयार हो सकता। जैसा कि बाइबिल में कहा है— Do men gather grapes of thorns, or figs of thistles ?-'क्या काँटों में अंगूर फलते हैं या कटीली झाड़ियों में डूमर मिलते हैं ?'

हम लोग लड़के-लड़कियों को जैसी शिक्षा देंगे, वे लोग ठीक वैसे ही गठित होंगे और बड़े होने पर उनकी बुद्धि का विकास उसी प्रकार होगा। अतएव, यदि हम लोग वर्तमान शिक्षाप्रणाली को अपने अनुरूप न ढाल सकें और जैसा अँगरेज बना गये थे वैसा ही रहने दें, तब तो अवस्था उसी प्रकार बनी रहेगी।

स्वामीजी ने एक बार कहा था–शिक्षा कैसी होनी चाहिए ? चरित्र-गठन ही शिक्षा का महत्वपूर्ण अंग है। छात्रों के चरित्र-गठन की ओर ध्यान देना होगा। फिर उन्होंने कहा था–पहले हम लोगों के पास ज्ञान की जो सब शाखाएँ थीं, आज उन सबकी शिक्षा हमें देनी होगी। उसके साथ अँगरेजी भी सीखनी होगी, क्योंकि अँगरेजी भाषा के द्वारा हम लोग विश्व के साथ वार्तालाप कर सकते हैं। आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिक (तकनीकी) विद्या भी आवश्यक है। क्यों ? इसलिए कि प्रौद्योगिकी के द्वारा हमें अपने उद्योग खड़े करने होंगे। ऐसी व्यवस्था करनी होगी, जिससे उद्योग-धन्धों का सहारा लेकर हमारी गरीब जनता अपने पेट की आग बुझा सके।

पर मूल बात है चरित्र-गठन। वह क्या यों ही हो जाता है ? क्या व्याख्यान देने या संसद द्वारा कोई नियम-कानून बना देने से चरित्र-गठन हो जाता है ? चरित्र-गठन के लिए धर्म की आवश्यकता होती है। हमारी प्राचीन शिक्षाप्रणाली में दो विभाग थे। एक थी अपरा विद्या और दूसरी परा विद्या। परा विद्या के द्वारा भारतवर्ष के श्रेष्ठ आदर्श की शिक्षा दी जाती, जो सहस्रों वर्ष से चली आ रही है, और वह है मोक्ष या धर्म। मोक्ष ही मानवजीवन का उद्देश्य है। शिक्षाक्षेत्र में भी उसकी ओर हमारी दृष्टि होनी चाहिए। पूर्वकाल में लड़के-लड़कियों को विविध प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। उसमें धर्म या नीति की शिक्षा को स्थान

मिलता था। इसे हम नैतिक गुणों का अनुशीलन कह सकते हैं। उन लोगों को इस सबका पालन करना पड़ता था। उसी से उनका चरित्र गढ़ता। पर आज बस यही तत्त्व हमारी शिक्षा में सम्मिलित नहीं है। फ़लस्वरूप जिस प्रकार की शिक्षा दे रहे हैं, तदनुरूप परिणाम मिल रहा है। राष्ट्र के उद्देश्य, राष्ट्र के आदर्श के साथ जिस शिक्षा का कोई सम्बन्ध न हो, वह शिक्षा वस्तुतः शिक्षा ही नहीं है। शिक्षा का मतलब क्या थोड़ा लिखना-पढ़ना सीख लेना मात्र है ? या और कुछ ? शिक्षा का तात्पर्य है, जो लड़के-लड़कियाँ पढ़ने विद्यालय जाते हैं, उन्हें देश के आदश के अनुरूप गढ़ ले कर यथार्थ भारतीय नागरिक बना देना। यदि यह न हो, तो शिक्षा से भला क्या लाभ ? आदर्श शिक्षा के अभाव में ही आज हमारी ऐसी दुरवस्था है।

हमारे स्कूल-कालेजों के पाठ्यक्रम में यह सब कुछ नहीं है। हमारे स्कूल-कालेज अभी विविध प्रकार की असुविधाओं में से गुजर रहे हैं। अभी रामकृष्ण मिशन स्वामीजी के भावादर्श को पूरी तरह से प्रयोग में नहीं ला पा रहा है। किन्तु उसके प्रयोग की जो कुछ भी थोड़ी सी सुविधा उपलब्ध है, उसके लिए हम लोगों ने ये छात्रावास और आवासिक विद्यालय खोले हैं। इससे छात्र सब एक साथ रहते हैं। शिक्षक भी छात्रों के साथ रहते हैं। इससे विद्यालय का जो पाठ्यक्रम है, उसके अतिरिक्त भी कुछ अधिक शिक्षा हम लोग छात्रों को दे सकते हैं।

इसीलिए अनेक स्थानों पर हम लोगों ने आवासिक विद्यालय खोले हैं। यहाँ पर आवासिक विद्यालय होने के कारण आज ठाकुर की संगमर्मर-मूर्ति की प्रतिष्ठा हुई। इस विद्यालय के साथ, पढ़ाई-लिखाई के साथ मन्दिर का क्या सम्बन्ध है–यह प्रश्न उठ सकता है। मन्दिर के साथ सम्बन्ध यह है कि इस मन्दिर के रहने से समस्त छात्रों के जीवन पर उसका प्रभाव पड़ेगा–वे लोग प्रतिदिन श्री ठाकुर, श्री माँ और स्वामीजी को देखेंगे और यह स्मरण करेंगे कि किस प्रकार अपना जीवन बिता गये तथा उपदेश दे गये। उनका भाव इन छात्रों के मन पर अपनी छाप अंकित कर सके इस हेतु मन्दिर की आवश्यकता है। वह दूसरे किसी विद्यालय में सम्भव नहीं। भले ही यहाँ पर पाठ्यक्रम में धर्म का भाव प्रत्यक्ष रूप सें नहीं है, तथापि छात्रगण वह पा ले रहे हैं।

बाहर के स्कूलों में छात्रों का शिक्षक के साथ विशेष कोई सम्पर्क नहीं रहता। लड़कें समय पर आते हैं, दो घण्टे पढ़ते हैं, फिर चले जाते हैं। शिक्षक ने एक घण्टा पढ़ाया फिर चले गये। उसके बाद कुछ नहीं। पर पूर्वकाल में ऐसा नहीं था। शिक्षक के साथ छात्रों का पिता-पुत्र के समान सम्पर्क रहता था। एक दूसरे के प्रति श्रद्धा का भाव रहता। वह श्रद्धा तो आजकल है ही नहीं। घेराव हो रहा है, और भी जाने कितना क्या हो रहा है। वह श्रद्धा रहे कैसे? उस श्रद्धा के लिए

जो गुण आवश्यक है, वही नहीं है। हमारे यहाँ आवासिक विद्यालय होने से शिक्षक छात्र, साधु–सब एक साथ रहते हैं। फलस्वरूप उनके भीतर एक दूसरे के लिए श्रद्धा का भाव, प्रेम का भाव पैदा होता है। इससे कुछ अच्छा फल प्राप्त होता है।

इसीलिए जहाँ भी हमारे इस प्रकार के आवासिक विद्यालय हैं, वहाँ स्वामीजी शिक्षा के सम्बन्ध में जो कुछ कह गये हैं, उसका कुछ तो हम लोग अवश्य प्रयोग में ला सक रहे हैं, छात्रों को दे सक रहे हैं। अतएव यहाँ पर मैं छात्रों से कहूँगा– तुम लोग इस प्रतिष्ठान में आये तो हो पर इस प्रतिष्ठान की, इस स्कूल की विशेषता क्या है यह तुम्हें जान लेना चाहिए। बिना चरित्रवान् हुए कोई भी कोई बड़ा काम नहीं कर सकता। चरित्रवान् होने पर ही तुम लोग बड़े बड़े काम कर सकोगे। जैसे महात्मा गाँधी को देखो कितना बड़ा काम कर गये। इसीलिए तो कि वे चरित्रवान् थे। तुम लोगों से और एक बात कहूँ। आजकल वार्षिक समावर्तन-सभा में भाषण (Convocation Address) होता है और छात्र डिग्री लेकर चले जाते हैं। पूर्वकाल में जो समावर्तन-सभा होती थी, उसका सार अंश कुछ तुमसे कहता हूँ। वह उपनिषद् में है, शिष्य के घर लौटने से पूर्व आचार्य उसे उपदेश देते हुए कहते हैं- 'सत्यं वद', 'धर्मं चर'– सत्य बात कहो, धर्म का आचरण करो। सत्य से विच्युत न होओ, धर्म से विच्युत न

होओ। निन्दनीय कर्म मत करो। जो आचरण अच्छा हो वही करो। 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव'। यह सब उपदेश तब आचार्य अपने शिष्यों को देते थे। स्वामीजी ने इसमें और दो बातें जोड़ दी हैं— दरिद्रदेवो भव, मूर्खदेवो भव।' उस काल की समावर्तन-सभा और आजकल की समावर्तन-सभा का अन्तर तो देखो। दृष्टिकोण में कितना अन्तर है। पूर्वकाल की शिक्षा में कहा गया है-तुम मनुष्य बनो। विद्यालय छोड़-कर जा रहे हो ऐसा समझकर शिक्षा कहीं छोड़ न देना, अध्ययन न छोड़ देना। तुम्हें अध्ययन करना होगा। घर वापस लौटते समय शिष्य को आचार्य यही सब उपदेश देते हैं। आजकल की समावर्तन सभा के भाषण में हम दूसरे प्रकार की बातें सुनते हैं। इनकी भी आवश्यकता है। पर मनुष्य बनने के लिए जिस शिक्षा की आवश्य-कता है, उसकी ओर आजकल कोई नजर नहीं है।

कलकत्ता या अन्यान्य शहरों के कोलाहल से तुम्हारी शिक्षा में, पढ़ाई—लिखाई में किसी प्रकार की बाधा न हो, इसीलिए ऐसे निर्जन स्थान में विद्यालय खोला गया है। तुम लोग बस लिखना-पढ़ना लेकर रह सकोगे। पर तुम्हें यह भी स्मरण रखना होगा कि तुम भारतवासी हो। ऐसा नहीं कि तुम लोग यहां पर सबसे कटकर रहोगे, या कि बाहर के लोगों के साथ तुम्हारा कोई सम्पर्क न रहेगा। यहाँ पर रहने से तुम्हें यह भी अवसर मिलेगा कि इस संस्था के चारों ओर जो सब गाँव हैं,

वहाँ के लोगों को तुम देख सको और जान सको कि ये ग्रामवासी किस प्रकार रहते हैं और क्या करते हैं। तब देखोगे कि उनकी अवस्था कैसी खराब है। तब तुम लोगों को स्वामीजी की उस बात का स्मरण आएगा कि इन सब लोगों को 'मनुष्य' बनाये बिना यदि मुट्ठी भर लोग लिखना-पढ़ना सीख भी जाते हैं, तो देश को कोई विशेष लाभ नहीं होने का। सबको शिक्षा देनी होगी—बस यह बात तुम्हें स्मरण रखनी होगी। इस देश को फिर से जगाकर उठाने के लिए इन लोगों को अच्छी तरह से शिक्षा देनी होगी। उन्हें काम-काज सिखाना होगा, जिससे वे अर्थोपार्जन कर सकें और ठीक ढंग से खा-पी सके। अभी तो तुम्हें पढ़ाई की ओर अपना मन अधिक लगाना होगा। किन्तु इन ग्रामवासियों की अवस्था देख इनके दुःख की बात यदि तुम याद में बनाये रखो, तो समय पाकर उनकी सहायता कर सकोगे।

तुम लोगों की शिक्षा जब समाप्त होगी और तुम संसार में प्रविष्ट होगे, तब मैं तुमसे कहूंगा कि संसार में घुसने से पूर्व तुम दो वर्ष देश के काम के लिए दो। जो गरीब और दुखी है, जो पढ़ना लिखना नहीं जानते, उन्हे आदमी बनाने के लिए तुम दो वर्ष उनका साथ करो। इससे अपना जीवन प्रारम्भ करने से पूर्व तुम इन सब लोगों का आशीर्वाद प्राप्त करोगे इनका आशीर्वाद लेकर काम शुरु करने से तुम्हे जीवन में सफ़लता मिलेगी।

और एक बात मन में उठ रही है। वह यह कि जो लोग पढ़ाई में बहुत अच्छे हैं, वे सभी विदेश जाना चाहते हैं। विदेश जाना अच्छा है, विदेश में पढ़ाई करना अच्छा है, किन्तु विदेश में ही बस जाना–यह मेरे मन को कैसा कैसा लगता है। तुम भला विदेश में क्यों बसोगे ? जिस देश ने तुम्हें पाल-पोसकर बड़ा किया, उसे चन्द चाँदी के टुकड़ों के लिए भूल जाओगे ? रुपया-पैसा पाने के लिए क्या भारत को छोड़ दोगे ? यह विचार तुम्हें करना चाहिए। सही है कि देश के विरुद्ध तुम्हें कुछ शिकायतें हैं। तुम कह सकते हो–आप जो कह रहे हैं, वह है तो ठीक, पर हम तो यहाँ मारे मारे फिरते हैं, यहाँ हमारी कोई कीमत नहीं। यहाँ दो सौ रुपये की नौकरी पाने के लिए कितने झमेले में से गुजरना पड़ता है, पर अमेरिका जाने से ५०० डालर, १००० डालर, १५०० डालर की नौकरी मिल जाती है। इस शिकायत में कुछ सत्यता अवश्य है–हम अपने देश में वास्तविक प्रतिभासम्पन्न और कर्मदक्ष व्यक्ति को उसका उचित प्राप्य नहीं दे पाते, तथापि मैं तुम लोगों से यह निवेदन करूँगा कि भारतवर्ष को छोड़ना मत, उसे भूलना मत।

उस दिन मैंने एक पुराने समाचार पत्र में पढ़ा कि भारत के १२-१३ लोगों ने विज्ञान में कोई एक पुरस्कार प्राप्त किया। अमेरिका में उनके नाम का विशेष रूप से उल्लेख किया गया। वे सभी भारतीय हैं, पर अब वे अमरीकी नागरिक हैं। देखो, भारतवर्ष ने तुम्हें आदमी

बनाया, उसके पास से तुमने लिया, और जब देने का समय आया, तब तुमने दूसरे एक देश को दे दिया। यह कैसी बात हुई ? यह भी विचार करने योग्य बात है। केवल रुपया-पैसा देखने से नहीं चलेगा। यहाँ कई प्रकार की असुविधाएँ हैं जरूर, पर तो भी भारतवर्ष को भूलने से नहीं बनेगा।

आज हरि महाराज (स्वामी तुरीयानन्द) की जन्मतिथि है। ठाकुर के शिष्यों में उनका स्थान बहुत ऊँचा था। वे भी अमेरिका गये थे, पर वहाँ बस नहीं गये। फिर से भारत लौटकर उन्होंने साधना-तपस्या की। ऋषिकेश, नांगल आदि स्थानों में जाकर उन्होंने कड़ी तपस्या की थी। ये लोग जो त्याग का यह सब भाव रख गये हैं, वह सब भूलने से काम नहीं बनेगा। छात्रों ने, तुम लोगों ने सम्भवतः हरि महाराज की जीवनी नहीं पढ़ी होगी। तुम लोग यदि उनकी जीवनी और 'पत्रावली' पढ़ो तो तुम लोगों का बहुत उपकार होगा। देखोगे वे कैसे तेजस्वी पुरुष थे।

मैं और अधिक समय नहीं लूँगा। ठाकुर, माँ और स्वामीजी के पास यही प्रार्थना करता हूँ कि उनका आशीर्वाद इस प्रतिष्ठान पर हरदम रहे और जो सब लड़के यहाँ से निकलें वे ठीक वैसे ही बनकर निकलें, जैसा कि स्वामी जी ने चाहा था।

❁

हे दयामयि सारदे माँ

"श्री"

(राग-सोरठ-मल्हार : ताल-तेवरा)

हे दयामयि सारदे माँ ।
विषय-बोध बिसार दे माँ ।। ध्रु. ।।

मातृभावादर्श अभिनव भोगरत जग को दिखाने ।
विश्व में अवतरण है तव, दुरित-हरण-विशारदे माँ ।।१।।

मलिन चित साधन-रहित है, धारणा तेरी न होवे ।
ज्ञान-पावक में गला अनुरूप नव आकार दे माँ ।।२।।

मोहपंक-निमग्न हूँ मैं, धो कलंक निजांक में ले ।
भ्रम-तिमिर से अन्ध हूँ, अब दृष्टि-दोष सुधार दे माँ ।।३।।

सदय होकर हृदय-तम हर, खोल अनुभव-द्वार दे माँ ।
कर्मपाश-विनाश कर दे, फिर न यह भवभार दे माँ ।।४।।

विभीषण-शरणागति (९/२)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डित उपाध्यायजी ने रायपुर के इस आश्रम में विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसर पर 'विभीषण शरणागति' पर एक प्रवचनमाला प्रदान की थी। प्रस्तुत लेख उसी के पाँचवे प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रम-साध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में शिक्षक हैं। उनकी इस बहुमूल्य सेवा के लिए हम उनके आभारी हैं।–स०)

पाप और पुण्य का परिणाम घटनाओं के रूप में नहीं होता, किसी वस्तु की प्राप्ति या अप्राप्ति के रूप में नहीं होता, उसका निर्णय तो अन्तःकरण पर पड़नेवाले प्रभाव से होता है। यह जो रावण ने विभीषण पर लात से प्रहार किया, सबके सामने उनका अपमान किया, यह विभीषण के पाप का फल था या पुण्य का? भरी सभा में किसी को लात मारकर निकाल दिया जाय, इससे बढ़कर अपमान और क्या हो सकता है? पर 'मानस' में यह संकेत दिया गया है कि वही विभीषण के जीवन की सबसे सौभाग्यशालिनी घड़ी थी।

सुन्दरकाण्ड में दो शत्रुओं पर प्रहार की बात कही गयी है–एक प्रारम्भ में लंकिनी पर और दूसरा, अन्त में विभीषण पर। लंकिनी पर एक सन्त प्रहार करता है और विभीषण पर एक असन्त। पर दोनों जगह एक ही बात विचारणीय है कि प्रहार के बाद उन दोनों के अन्तःकरण पर क्या प्रतिक्रिया हुई। लंकिनी पर

जब हनुमान्‌जी का प्रहार हुआ, तो उसने हाथ जोड़कर कहा—

पुनि संभारि उठी सो लंका।
जोरि पानि कर बिनय ससंका॥ ५/३/५
तात मोर अति पुन्य बहुता
देखेउँ नयन राम कर दूता॥ ५/३/८

—'मेरे बड़े पुण्य है, जो मैं रामचन्द्रजी के दूत को नेत्रों से देख पायी!' लंकिनी ऐसी पिटी कि उसके मुँह से रक्त निकला, फिर भी उसे पीटनेवाले में गुण ही दिखायी दे रहा है! यह तो विलक्षण दृष्टि का ही परिणाम है। लंकिनी को लगता है कि हनुमान् जी के प्रहार से ही उसे ईश्वर की स्मृति हुई, उसमें सत्संग के दिव्य भावों का संचार हुआ और प्रहार में उसे अपने जीवन का सौभाग्य दिखायी पड़ा।

यही बात आपको 'मानस' के उत्तरकाण्ड में मिलेगी, जहाँ गोस्वामीजी काकभुशुण्डि के चरित्र का संकेत देते हैं। आप जानते हैं कि वे सदा से तो काक भुशुण्डि थे नहीं, वे पहले भुशुण्डि शर्मा थे और फिर हो गये काक भुशुण्डि। उन्हें भी अपने दो पूर्वजन्मों में शाप का प्रहार झेलना पड़ा था। जब वे भुशुण्डि शर्मा थे, तब लोमश ऋषि ने उन्हें शाप दिया था। लोमशजी थे महान् ज्ञानी और भुशुण्डि शर्मा के अन्तःकरण में भक्ति के संस्कार थे। गोस्वामी जी कहते हैं कि उनके पिता उन्हें पढ़ा-पढ़ाकर हार गये- **'हारेउ पिता पढ़ाइ पढ़ाई'** (७/१०९/८), पर भुशुण्डि थे कि

पहली कक्षा से दूसरी में नहीं पहुँचे ! परिणाम यह हुआ कि पिताजी निराश हो गये। फिर उन पर एक और संकट भौतिक दृष्टि से आ पड़ा, उनके माता-पिता की मृत्यु हो गयी—

भए कालबस जब पितु माता।
मैं बन गयउँ भजन जनत्राता ॥ ७/१०६/९

—उनके मन पर एक जबरदस्त आघात पड़ा और उन्हें लगने लगा कि विद्या का चरम उद्देश्य कोई भौतिक प्रतिष्ठा प्राप्त करना नहीं, अपितु परमतत्त्व का साक्षात्कार करना है—'सा विद्या या विमुक्तये' (विद्या वह है जो मुक्त करा दे)। माता-पिता को खो देने से उन्हें ऐसा लगा कि क्या ऐसे भी माता-पिता हो सकते हैं, जो कभी न खोएँ ? संसार के माता-पिता तो मिलते हैं और खो जाते हैं, इसलिए ऐसे माता-पिता की खोज की जाय, जिनकी स्नेह-छाया के सिर पर से उठने का कोई भय न हो। जब लक्ष्मणजी प्रभु के द्वारा निर्दिष्ट हो सुमित्रा अम्बा से वन जाने की आज्ञा माँगने गये थे, तब सुमित्रा अम्बा ने कहा था-

तात तुम्हारि मातु बैदेही।
पिता रामु सब भाँति सनेही ॥ २/७३/२

—उनके इस कथन का तात्पर्य क्या ? सुमित्रा अम्बा का संकेत यह है कि यदि तुम शरीर को माता मानोगे, तो यह माता तो एक दिन मर जाएगी और तुम माता से प्राप्त होनेवाले वात्सल्य से वंचित हो जाओगे। पर

यदि तुम वैदेही को माता मानोगे, तो वैदेही के नित्य होने के कारण तुम्हें हमेशा वात्सल्य प्राप्त होता रहेगा। 'सब भाँति सनेही' कहकर, वैदेही का नाम लेकर सुमित्रा अम्बा यही संकेत करती हैं कि तुम्हारी माता अमर है। फिर मानो पूछती हैं—तुम किस पिता को मानते हो? —महाराज श्री दशरथ को या राम को? देखो, एक पिता ये हैं, जिन्होंने पुत्र का परित्याग कर दिया। पर तुम ऐसे पिता के साथ जा रहे हो, जो कभी पुत्र का परित्याग नहीं करता। संसार के पिता के सामने रोग या शोक या मृत्यु के रूप में ऐसी बाध्यताएँ आ जाती हैं, जब उसे पुत्र का परित्याग करना ही पड़ता है, पर श्री राम तो ऐसे पिता हैं, जो कभी पुत्र को नहीं छोड़ते। लक्ष्मण, तुम श्रीराम के साथ जाकर कोई त्याग नहीं कर रहे हो, बल्कि पा रहे हो— ससार के अनित्य माता-पिता के स्थान पर वास्तविक और नित्य पिता को पाने जा रहे हो इस सांसारिक राज्य के स्थान पर भगवान् के राज्य में प्रवेश कर रहे हो। फलस्वरूप, लक्ष्मणजी उस आनन्द के भागी बनते हैं, जो कभी क्षीण और नष्ट नहीं होता। तो, भुशुण्डिजी भी अपने माता-पिता को खोकर उस नित्य पिता की खोज में वन में चले जाते हैं। वे जहाँ भी आश्रम देखते हैं, चले जाते हैं, मुनियों के चरणों में सिर नवाते हैं और उनसे श्री राम के गुणों की कथाएँ पूछते हैं। वे हैं भक्त, इसलिए भक्ति की दृष्टि से उस नित्यतत्व के सम्बन्ध में सुनना और जानना चाहते हैं। पर उन्हें

जो उत्तर मिलता है, उससे उन्हें सन्तोष नहीं होता—

जेहि पूंछउं सोइ मुनि अस कहई।
ईस्वर सर्ब भूतमय अहई॥ ७/१०९/१५

—मुनिजन कहते कि ईश्वर सर्वत्र है, सबभूतमय हैं। पर—

निर्गुन मत नहिं मोहि सोहाई। ७/१०९/१६

—निर्गुण मत उन्हें नहीं सुहाता। इसका तात्पर्य यह है कि कुछ बातें ऐसी होती हैं, जिन्हें क्रम से जानने पर ही लाभ होता है। अगर किसी व्यक्ति के जीवन में एकदम से यह बात पैठाने की चेष्टा की जाय कि ईश्वर सब जगह में वास करता है, तो उसके मन में यह प्रश्न उठ सकता है कि जब ईश्वर सर्वत्र हैं, तब उसकी पूजा के लिए उपकरण की क्या आवश्यकता ? ऐसे समय यह विचार करके देखना आवश्यक है कि ईश्वर की जो सर्वव्यापकता है, वह मात्र सुनी बात है या वस्तुतः अनुभूत ? यदि मात्र सुन लिया जाय कि ईश्वर सर्वत्र है, तो उससे समाज के जीवन में, व्यक्ति के जीवन में क्या अन्तर पड़ा ? पाप-ताप में अन्याय-अत्याचार में, हमारी सुख-दुखः की अनुभूति में भला क्या अन्तर पड़ा ? इसका तात्पर्य यह हैं कि ईश्वर की सर्वत्रता पहले जानने योग्य नहीं है। पहले तो हम एक जगह ईश्वर को जानें, एक स्थान पर ईश्वर की अनुभूति करें, और जब हम इस भावना का क्रमिक विस्तार करेंगे, तभी हमारा ज्ञान वास्तविक होगा। यदि हम प्रारम्भ से ही सर्वत्रता का समर्थन करने लग जायँ, तब वह भाषण का विषय तो हो सकता है,

पर सामने वाला व्यक्ति उसे ठीक से हृदयंगम नहीं कर पाता।

इस दृष्टि से देखें तो भक्ति और ज्ञान में वस्तुत: कोई संघर्ष नहीं रह जाता। पर खेद की बात यह है कि दोनों के बीच विवाद की बात जाने कब से चली आ रही है। गोस्वामी जी इस तथ्य को अपने ग्रन्थ में बड़ी भावनात्मक और विचार की पद्धति से प्रकट करते हैं तथा भक्ति एव ज्ञान को समन्वित करने की सार्थक चेष्टा करते हैं। वे भक्ति और ज्ञान के लिए सुन्दर प्रतीक चुनते हैं। उनको दृष्टि में भगवान् राम कौन हैं? –

ग्यान अखंड एक सीताबर (७/७७/४)॥

और सीता जी कौन हैं? –

सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर।
भगति ग्यानु बैराग्य जनु सोहत धरें सरीर॥ २/३२१

अर्थात् श्री राम अखण्ड ज्ञान हैं और सीताजी मूर्तिमती भक्ति। अब यदि भगवान् राम और सीता में भेद माना जाय, तभी ज्ञान और भक्ति में भेद को बात उठ सकती है। पर क्या उन दोनों में भेद है? गोस्वामीजी इसके उत्तर में संकेत देते हैं–

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदउँ सीता राम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न॥ १/१८

–जो भेद शब्द और उसके अर्थ में है, जल और उसकी तरंग में है, बस वही भेद भगवान् राम और श्री सीताजी में है। पर यह तो कोई भेद है नहीं, इसलिए दोनों जैसे अभिन्न हैं, वैसे ही ज्ञान और भक्ति अभिन्न हैं।

तब प्रश्न उठता है कि जब भगवान् राम और सीताजी अभिन्न हैं, तो फिर उनके भिन्न होने की क्या आवश्यकता ? यदि दोनों एक ही हैं, तो उस एक के दो होने का क्या प्रयोजन ? बस यहीं पर भक्ति की आवश्यकता होती है। इसका उत्तर यों दिया जा सकता है कि यदि सीताज़ी का भगवान् राम से वियोग न हो, तो रावण को मारने का संकल्प भगवान् में जाग्रत् न होगा। रावण की मृत्यु के लिए ब्रह्म और शक्ति के संयोग में वियोग की सृष्टि की गयी तब ब्रह्म ने सक्रिय हो रावण का विनाश किया। अद्वैत तत्व में कर्मी-अकर्मी प्रश्न नहीं होता—वह तो एकरस है, ज्यों का त्यों है। पर यदि जीवन में परिवर्तन लाना है, तब तो अद्वैत को द्वैत रूप में स्वीकार किये बिना न तो व्यवहार चलेगा और न जगत् के मिथ्यात्व का ही बोध होगा। इसीलिए द्वैत और अद्वैत के इस विचित्र रहस्य को गोस्वामीज़ी श्री सीताजी और भगवान् राम के सांकेतिक तत्व के माध्यम से प्रकट करते हैं। वे यों संकेत देते हैं। सीताज़ी कहाँ जन्म लेती हैं ? —महाराज जनक के घर में। और भगवान् राम कहाँ जन्म लेते है —महाराज दशरथ के घर में। महाराज जनक यदि महान् ज्ञानी हैं, तो महाराज दशरथ के चरित्र में श्रद्धा और भक्ति की प्रधानता है। गोस्वामी जी का संकेत यह है कि ज्ञानी के घर भक्ति ने जन्म लिया और भक्त के घर ज्ञान ने। इससे उनका तात्पर्य यह है कि जब तक ज्ञानी के अन्त:करण में भक्ति का जन्म नहीं होता और भक्त के अन्त:करण में ज्ञान का

प्रवेश नहीं होता, अर्थात् जब तक बुद्धि का सत्य हृदय में नहीं उतरता और हृदय की अनुभूति को बुद्धि स्वीकार नहीं करती, तब तक जीवन में पूर्णता नहीं आ पाती ।

अब कोई प्रश्न कर सकता है कि ज्ञान बड़ा या भक्ति ? प्रश्नकर्ता थोड़ा भगवान् राम और सीताजी के चित्रों की ओर देख ले न, उसे पता चल जायगा कि कौन बड़ा है ! वैसे देखें तो भगवान् राम ही लम्बे और बड़े दिखायी देंगे और सीताजी छोटी । तब तो भक्ति छोटी हो ही गयी ! उसके बड़े होने का फिर क्या विवाद रहा ? ज्ञान की महिमा तो वैसे भी स्पष्ट है । यदि श्री राम महाराज जनक के यहाँ न आते, तो अज्ञान का धनुष कौन तोड़ता ? विना ज्ञान-सूर्य के उदय हुए धनुषरूप अज्ञानान्धकार दूर नहीं होता । लक्ष्मणजी ने तो भगवान् राम से कह ही दिया था——

नृप सब नखत करहिं उजिआरी ।

टारि न सकहिं चाप तम भारी ।। १/२३८/१

——सब राजारूपी तारे उजाला तो करते हैं, पर वे धनुषरूपी महान् अन्धकार को हटा नहीं सकते ।' और जब भगवान् राम धनुष को तोड़ते हैं, तो चारों ओर इतने जोरों से जयध्वनि होती है कि धनुर्भंग की ध्वनि उसमें मिल जाती है ——

रही भुवन भरी जय जय बानी ।

धनुष भंग धुनि जात न जानी ।। १/२६१/७

गोस्वामीजी इसके पश्चात् लिखते हैं कि भगवान् राम को भले ही जयध्वनि प्राप्त हो गयी हो, पर जयमाल तो सीताजी के हाथ में है। संकेत यह है कि यह जो ज्ञान ने अन्धकार पर विजय प्राप्त की है, उसका प्रमाण-पत्र तो भक्ति के पास है। जब भक्तिदेवी जयमाल पहनाएँगी, तभी यह प्रमाणित होगा कि धनुष टूटा। आप भले ही एम.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण कर लें, पर यदि आपके पास प्रमाण-पत्र न हो, तो काम कैसे चलेगा? तो, सीताजी जब जयमाल लेकर श्री राम के समीप आती हैं, सखियाँ कहती हैं—— 'पहिरावहु जयमाल सुहाई' (१/२६३/५)। इस पर——

सुनत जुगल कर माल उठाई।
प्रेम बिबस पहिराइ न जाई॥ १/२६३/६

——सीताजी ने दोनों हाथों से माला उठायी। श्री राम ने उसे पहनने के लिए सिर झुका लिया, पर सीताजी से माला पहनायी नहीं जा रही है, बड़ा विलम्ब लग रहा है। यह देख गोस्वामीजी को बड़ा आनन्द आ रहा है। वे कहते हैं कि भई, अब तक तो लग रहा था कि ज्ञान बड़ा है, पर अब लगता है कि भक्ति बड़ी है। देखो, सीताजी के हाथ ऊपर हैं और श्री राम का सिर झुका हुआ है। इससे यही तो सिद्ध होता है न कि भक्ति ज्ञान से बड़ी है! गोस्वामीजी का संकेत यह है कि ज्ञान की शोभा इसमें नहीं कि अन्धकार को नष्ट करने के बाद अकड़कर खड़ा हो जाय, बल्कि इसमें है

कि भक्ति के सामने झुक जाय। विजय के बाद एक व्यक्ति अकड़ गया और दूसरा व्यक्ति विनम्र हो गया। अब इन दोनों में बड़ा कौन है? स्वाभाविक ही वह, जो विजय पाकर भी विनीत हो जाता है। और इस नम्रता का पाठ तो भक्ति के द्वारा ही प्राप्त होता है। इस तथ्य को प्रकट करने के लिए ही गोस्वामीजी कहते हैं कि सखियों के संकेत करने पर भी श्री सीताजी जय-माला नहीं पहनातीं। इसकी प्रतिक्रिया ब्रह्म के अन्तः-करण पर किस प्रकार होती है ? श्री राम को कोई अपमान का भान नहीं होता। यही मानो ज्ञान की पूर्णता है। प्रभु खड़े हैं, विलम्ब को निर्लिप्त होकर सह रहे हैं। जब वे संकेत से पूछते हैं कि विलम्ब क्यों हो रहा है, तो भक्तिदेवी भी मानो संकेत से कहती हैं कि आपने जब धनुष तोड़ने में इतना विलम्ब किया, तब इस विलम्ब पर आपत्ति क्यों? इस पर प्रभु मानो मुसकराकर इंगित करते हैं कि ज्ञान में विलम्ब लगता ही है, पर भक्ति में भी यदि विलम्ब लग जाय, तब तो भक्ति की मर्यादा ही चली जायगी! भक्ति के लिए तो यही कहा गया है — 'कहहु भगति पथ कवन प्रयासा' (७।४५।१)। और ज्ञान के लिए कहा है--

कहत कठिन समुझत कठिन साधत कठिन बिबेक। ७/११८ ख

इसलिए प्रभु मानो संकेत करते हैं कि अब और विलम्ब न कीजिए, माला शीघ्र पहना दीजिए।

भगवान् राम श्री सीताजी और श्री लक्ष्मण के साथ

घन पथ पर चले जा रहे हैं। सब तृषित हो गये हैं, इसलिए लक्ष्मणजी जल लेने चले जाते हैं और प्रभु वृक्ष के नीचे बैठकर पैर में गड़ा हुआ काँटा निकालने लगते हैं। सीताजी यह देखकर आश्चर्य से पूछती हैं–आपके चरणों में कांटा कैसे गड़ गया ? बात यह थी कि सीताजी के चरणों में काँटा नहीं गड़ा था। प्रभु मुसकराकर कहते हैं –देखो सीते, इससे यही सिद्ध होता है कि ज्ञान का पथ कण्टकाकीर्ण है और भक्ति का निष्कण्टक। नहीं तो एक ही मार्ग पर हम लोग चल रहे हैं, मेरे पैरों में काँटा चुभे और तुम छूट जाओ इसका यही तो तात्पर्य हुआ ! फिर प्रश्न उठा कि लक्ष्मण के पैरों में भी तो काँटे नहीं चुभे, सो कैसे ? प्रभु हँसकर बोले-वह भक्तिदेवी के पीछे, अनुयायी बनकर चल रहा था न, इसीलिए वह भी काँटों से बच गया ! यदि मेरे पीछे पीछे चलता, तो उसे भी मेरे ही समान काँटों की चुभन सहनी पड़ती ! प्रभु कितने महान् हैं ! स्वयं काँटों की चुभन सहकर, दूसरों की पीड़ा अपने ऊपर लेकर यह प्रदर्शित कर रहे हैं कि भक्ति के पथ पर चलने से व्यक्ति को काँटों की पीड़ा नहीं सहनी पड़ती। मानो यह बता दे रहे हैं कि जैसे निष्कण्टक चलने का आनन्द हैं, वैसे ही दूसरों की पीड़ा अपने ऊपर लेने का भी आनन्द है और दोनों के सामंजस्य में तो एक विशेष प्रकार की रसानुभूति है। इसीलिए गोस्वामीजी कहते हैं–प्रभु मानो सीताजी की ओर संकेत करते हैं कि तुम जब जयमाल पहनाओगी, तभी

लोगों को इस सत्य का ज्ञान होगा कि मेरे हृदय में वही स्थान पाता है, जो पहले तुम्हारे करकमलों में स्थान पा ले ! इस सत्य का दर्शन कराने के लिए कि तुम्हारी कृपा के माध्यम से ही मेरे हृदय तक पहुँचा जा सकता है, तुम्हें अब शीघ्र मुझको जयमाला पहना देनी चाहिए। इस प्रकार भक्ति और ज्ञान का दिव्य मिलन होता है। फिर मिलन के पश्चात् वियोग की लीला होती है और उसके द्वारा बुराइयों का विनाश होता है।

इसका अभिप्राय यह है कि अभाव की अनुभूति के बिना साधना नहीं हो पाती, बुराई के विरुद्ध संघर्ष करने की प्रवृत्ति जन्म नहीं ले पाती। ज्ञान की स्थिति में तो कोई काम नहीं हो पाता। ऐसे ज्ञानी के लिए गीता में कहा गया है—— **'तस्य कार्यं न विद्यते'** (३।१७)। अतः ज्ञानी को भी व्यवहार करने के लिए एक प्रकार के अभाव का आश्रय लेना पड़ता है और अभाव की भावना द्वैत में ही बन सकती है। इसीलिए अद्वैतलीला करने के लिए द्वैत में विभाजित——सा प्रतीत होता है।

प्रसंग आता है, जब भगवान् राम और लक्ष्मण सीताजी की खोज करते करते शबरी के आश्रम पर पहुँचे। प्रभु शबरी से पूछते हैं——सीताजी को पाने का क्या उपाय है ? भक्ति खो गयी है, और भगवान् भक्ति को पाने का उपाय पूछते हैं ! किससे ?——शबरी से। शबरी कौन है ? ——मूर्तिमती भावना। वह असमंजस में पड़कर कहती है—— मैं, और भगवान् को भक्ति का पता बताऊँ ? भगवान् का

तात्पर्य यह है कि मैं अभी एक पथिक के रूप में चल रहा हूँ, मेरा पूछना मानो लोगों को यह संकेत देने के लिए है कि बिना भावना और सन्त का आश्रय लिये कोई भक्ति को नहीं पा सकता, इसीलिए मैं तुमसे पूछ रहा हूँ——

जनकसुता कइ सुधि भामिनी ।
जानहि कहु करिबरगामिनी ॥ ३/३५/१०

और शबरी उत्तर में कहती है——

पंपा सरहि जाहु रघुराई ।
तहँ होइहि सुग्रीव मिताई ॥ ३/३५/११

——आप पम्पा सरोवर में जाकर सुग्रीव से मित्रता कीजिए, तब आपका काम होगा । इसका एक विशिष्ट आध्यात्मिक अर्थ है । एक दिन मैंने आपके सामने कहा था कि भगवान् राम सूर्यवंश में जन्म लेते हैं और सुग्रीव भी सूर्य के अंश से पैदा होते हैं । ज्ञान के ये दो रूप हैं—— भगवान् राम और सुग्रीव । उसी प्रकार लक्ष्मण भी वैराग्य हैं और हनुमान्‌जी भी । लक्ष्मणजी के लिए 'मानस' में कहा गया है——

भगति ग्यानु बैराग्य जनु सोहत धरें सरीर । २/३२१

——वे मूर्तिमान् वैराग्य हैं, और हनुमान्‌जी के लिए कहा गया——'**प्रबल बैराग्य दारुण प्रभंजन**'——वे प्रबल वैराग्य हैं । तो, एक ओर ज्ञान की जोड़ी और दूसरी ओर वैराग्य की । शबरी के इस कथन का क्या तात्पर्य कि प्रभु पहले सुग्रीव और हनुमान् से मिलें, तब खोज की यात्रा प्रारम्भ होगी? तात्पर्य यह है कि भगवान् राम और लक्ष्मण हैं सिद्ध ज्ञान

और सिद्ध वैराग्य तथा सुग्रीव और हनुमान् हैं साधन ज्ञान और साधनमूलक प्रबल वैराग्य। केवल सिद्ध ज्ञान में कर्म की स्फुरणा नहीं होती। यदि भगवान् राम अपने पूर्ण ज्ञान में अवस्थित रहें, तो रावण के विरुद्ध वे क्यों लड़ेंगे ? यदि कहो कि सीताजी के लिए, तब तो कहना पड़ेगा कि सिद्ध ज्ञान की दृष्टि से तो सीताजी का भगवान् राम से वियोग हुआ ही नहीं, और न कभी होगा, फिर उनका रावण से युद्ध कैसे होगा ? इसलिए शबरी संकेत देती हैं --- महाराज, आप साधन ज्ञान से मित्रता कीजिए, उसका आश्रय लीजिए, जिससे आप नित्यप्राप्त सीताजी को थोड़ी देर के लिए अपने से अलग मान सकें और उनका हरण करनेवाले रावण पर आक्रमण कर उसका वध कर सके। मतलब यह है कि ईश्वर को भी कर्म करने के लिए अपने को जीव और अल्पज्ञ मानकर चलना होगा। हम पढ़ते हैं न कि जब हनुमान् जी पहली बार भगवान् राम से मिले, तो उन्होंने प्रभु से पूछ दिया ---आप ईश्वर हैं क्या ? प्रभु हँसकर बोले--- हम काहे के ईश्वर हैं ? देखो --

इहाँ हरी निसिचर बैदेही।
बिप्र फिरहिं हम खोजत तेही ॥ ४/१/३

---राक्षस ने मेरी पत्नी को चुरा लिया है। यदि हम ईश्वर होते, तो क्या सर्वशक्तिमान् न होते ? और यदि हम सर्वशक्तिमान् होते, तो राक्षस मेरी पत्नी को कैसे चुराता ? फिर देखो, हम अपनी पत्नी को

खोजते हुए भटक रहे हैं। यदि हम सर्वज्ञ ईश्वर होते तो क्या इतना भी नहीं जान सकते थे कि किसने हमारी पत्नी को चुराया है और चुराकर कहाँ रखा है ? इतना सुनना था कि हनुमान्‌जी प्रभु के चरणों पर गिर पड़ते हैं और चरणों को पकड़ लेते हैं -- **'प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना'** (४/१/५)। प्रभु हँसकर बोले --विप्र ! यह तो नयी बात हो गयी। जब तुमने मुझे ईश्वर कहा, तो दूर से मुझे प्रणाम किया और अब जब मुझमें ईश्वरत्व का कोई लक्षण नहीं मिला, तुमने गिरकर मेरे चरणों को पकड़ लिया है ! हनुमान्‌जी ने कहा--महाराज, मैंने जिस ईश्वर की पहले चर्चा की थी, वह बड़ा तो था, पर काम का नहीं था। पर यह जो नया ईश्वर दिखायी दे रहा है, वह मेरे काम का है। अभी तक तो यही सुना था कि ईश्वर में हर्ष-विषाद नहीं है, दुःख-शोक नहीं है। ऐसा ईश्वर मेरे काम का नहीं इस-लिए तब दूर से प्रणाम किया था। पर जब मैंने देखा कि ईश्वर भी किसी को खोजता है, किसी के लिए रोता है, तब मैंने समझ लिया कि ऐसा ईश्वर बड़े काम का है और उसे पकड़कर रखना चाहिए! देखिए न, यदि आपको यह बोध न होता कि सीताजी खो गयी हैं, तो आप खोजने न निकलते और तब मैं आपको कैसे पकड़ पाता ? तात्पर्य यह कि ईश्वर यदि अभाव-बोध को स्वीकार न करे, तो लीला सम्भव नहीं हो पाती। वैसे तो भगवान् राम को सीताजी नित्यप्राप्त हैं, पर रावण

का वध करने के लिए उन्हें द्वैत का सहारा लेना पड़ता है, यह बोध स्वीकार करना पड़ता है कि सीताजी उनसे भिन्न हैं और रावण ने उनका अपहरण कर लिया है।

यही भाव लक्ष्मणजी ने प्रकट किया था। वे हैं शुद्ध वैराग्य। उन्होंने दो व्यक्तियों को डाँटा था--एक जनक को और दूसरे परशुराम को। क्यों डाँटा?--इसलिए कि एक इसलिए क्रोध कर रहा था कि धनुष क्यों नहीं टूट रहा है और दूसरा इसलिए कि धनूष क्यों टूट गया। एक ज्ञानी कहता है कि धनुष टूटना चाहिए और दूसरा ज्ञानी कहता है कि नहीं टूटना चाहिए। ये दोनों ज्ञानी सत्य को नहीं जानते। सत्य को जाननेवाला तो शुद्ध वैराग्य ही है। लक्ष्मणजी परशुरामजी से कहते हैं-- अभी तो धनुष के न टूटने पर एक सज्जन रुष्ट हो रहे थे और अब टूटने पर आपको क्रोध आ रहा है। मैं जानना चाहता हूँ कि

'का छति लाभु जून धनु तोरें' (१/२७१/२)

--इस पुराने धनुष के तोड़ने में भला क्या लाभ है और क्या हानि? परशुरामजी को लगा कि उनको चिढ़ाया जा रहा है। पर लक्ष्मणजी का प्रश्न बड़ा दार्शनिक है। जनकजी सोचते हैं कि धनुष के टूटने में बहुत बड़ा लाभ है और वे कह भी देते हैं--

'कहहु काहि यहु लाभ न भावा'। (१/२५१/१)

पर परशुरामजी को लगता है कि शिवजी का धनुष टूट गया और वे उसे बड़ी हानि मानते हैं। लक्ष्मणजी दोनों की स्थिति देख हँसते हैं। जनकजी की स्थिति पर

इसलिए हँसते हैं कि जनक ऐसा मानते हैं कि धनुष के टूटने पर सीताजी का भगवान् राम से विवाह होगा, अन्यथा नहीं, जबकि सत्य यह है कि दोनों का विवाह तो अनादि काल से हुआ है। ब्रह्म और शक्ति का मिलन तो शाश्वत है, धनुष के टूटने, न टूटने से उसका क्या सम्बन्ध ? और जब लक्ष्मणजी परशुराम की स्थिति पर हँसते हैं, तो उसका तात्पर्य यह है कि यदि परशुराम ने भगवान् श्री राम को पहचान लिया होता, तो वे समझ जाते कि धनुष के टूटने में कोई हानि नहीं हुई। कैसे ? कथा आती है कि धनुष ने शंकरजी से कहा—महाराज, आपने मुक्ति तो बहुतों को दी, पर हमें ऐसी स्थिति में रखा कि सदा गुण से बँधे ही रहना पड़ता है, हम पर भी दया कीजिए ! तब शंकरजी ने धनुष को पाठ पढ़ाया—

'मानो बारे ते पुरारि ही पढ़ायो है' ,(कवितावली बालकाण्ड, १०)

और उससे कहा कि जब तुम उनके हाथ पहुँचोगे, जो निर्गुण हैं, तब ऐसी स्थिति में पहुँच जाओगे, जिससे गुण में बँधना न पड़े। तब तुम टूटकर मुक्त हो जाओगे। और आज वही टूटने की प्रक्रिया पूरी हो गयी। लक्ष्मणजी सोचते हैं कि यदि परशुराम इस तथ्य से अवगत होते, तो धनुष के टूटने से उन्हें रोष नहीं आता।

तो, लक्ष्मणजी का तात्पर्य यह है कि भगवान् राम और सीताजी का वास्तव में न तो संयोग होता है, न वियोग, पर लीला में संयोग और वियोग दोनों को स्वीकार करना पड़ता है। जब भगवान् भक्त पर कृपा

करना चाहते हैं, तो वे अद्वैत की भूमिका से उतरकर द्वैत स्वीकार करते हैं, सिद्ध ज्ञान साधन ज्ञान का सहारा लेता है। तभी ता हनुमान्‌जी प्रभु के चरणों को पकड़कर कहते हैं--प्रभो, आप सीताजी को खोजने चले इसीलिए तो हम आपको पा सके, नहीं तो जीव का क्या बस कि आपके समीप पहुँच पाए !

यही कारण है कि भक्त ईश्वर के निर्गुण-निराकार रूप के बदले उसका सगुण-साकार रूप ही पसन्द करता है, क्योंकि वह सगुण-साकार को देख सकता है, पकड़ सकता है। इसीलिए भुशुण्डिजी भी पहले ईश्वर को राम-रूप में देखना चाहते हैं। वे बड़े बडे मुनियों के पास जाते हैं, परन्तु वे मुनिजन उन्हें सर्वव्यापी, अरूप ईश्वर का उपदेश देते हैं। भुशुण्डि को सन्तोष नहीं होता। अन्त में सबसे निराश हो वे लोमश मुनि के पास जाते हैं। वहाँ पहुँचकर देखते हैं--

मेरु सिखर बट छायाँ मुनि लोमस आसीन। ७/११०(ख)

---सुमेरु पर्वत के शिखर पर बड़ की छाया में लोमश मुनि बैठे हैं। भुशुण्डि ने उन्हें प्रणाम किया। वट की छाया में मुनि को बैठे देख उन्हें लगा कि अब काम बन जायगा। वट है विश्वास का प्रतीक--'**बटु बिस्वास अचल निज धरमा**'(१/१/११)। भुशुण्डि ने सोचा कि जब ज्ञानी विश्वास को छाया में बैठे हैं, तो इसका तात्पर्य है कि उन्होंने विश्वास को तिरस्कृत नहीं किया है, अतः इनसे भक्ति के विषय में प्रश्न करने से समाधान हो सकता

है। ऐसा विचार कर भुशुण्डि लोमश मुनि से उपदेश की प्रार्थना करते हैं। मुनि थोड़ी देर तक तो भक्ति का उपदेश देते हैं, पर बाद में वे सगुण-साकार का खण्डन कर निर्गुण-निराकार का उपदेश देना प्रारम्भ कर देते हैं। भुशुण्डिजी निर्गुण-निराकार को स्वीकार नहीं कर पाते और मुनि के साथ तर्क-वितर्क करने लगते हैं। इससे मुनि चिढ़ जाते हैं और भुशुण्डि को शाप दे देते हैं। आप पढ़ते हैं कि जब भुशुण्डि भगवान् राम के भक्त नहीं थे, तब भी उन्हें शाप मिला और इस जन्म में जब वे भगवान् राम के भक्त हैं, तब भी लोमश मुनि द्वारा शापित होते हैं। दोनों स्थितियों में भुशुण्डि के अन्तःकरण पर क्या प्रभाव पड़ा ? जब भक्त नहीं थे, तब शिवजी का उन्हें शाप मिला कि तू सर्प हो जा और वे थर थर काँपने लगे थे। पर अब की बार जब वे भक्त थे, तब लोमश मुनि का शाप मिला कि तू कौआ हो जा, पर उनके अन्तःकरण में न भय आया, न दीनता——'नहिं कछु भय न दीनता आई' (७/१११/१६)। उन्होंने गुरु को प्रणाम किया और प्रसन्न होकर चल पड़े।

यहाँ विचित्र बात हो गयी। जिसने शाप दिया, वह तो व्याकुल हो गया और जिसे शाप मिला, वह मुसकराने लगा; जिसने पीड़ा पहुँचायी, उसे कष्ट हुआ और जिसे पीड़ा पहुँचायी गयी, उसको कहीं रंच मात्र भी पीड़ा की अनुभूति नहीं हुई। जब काकभुशुण्डिजी से किसी ने पूछ दिया कि आपको कौआ बना देने से

दुःख नहीं हुआ, तो उन्होंने कहा—"नहीं, बल्कि मुझे तो बड़ा आनन्द आया।"

"आपको किस बात का आनन्द आया ?"

"मैं तो लोमशजी के पास भगवान् का ध्यान करने का उपाय पूछने गया था और वे इतने कृपालु निकले कि क्रोध में भी उन्होंने मुझे भगवान् के पास पहुँचने का मार्ग बता दिया।"

"सो कैसे ?"

"अरे भाई ! ब्राह्मण से कौआ बनाकर उन्होंने यह बता दिया कि यदि भक्ति पानी है, तो छोटा बन, बड़ा मत बन। पहला लाभ तो यही हुआ। फिर, यदि ब्राह्मण बनकर प्रभु के दर्शन करने जाता, तो द्वारपालों से प्रार्थना करता, औरों की चिरौरी करता, तब कहीं कठिनाई से मुझे भीतर प्रवेश मिल पाता। पर कौआ बना दिया, तो भला किससे पूछने की जरूरत ? प्रभु के पास जाने का सारा व्यवधान ही समाप्त कर दिया !"

"पर महाराज, यदि आपको पक्षी ही बनाना था, तो कोई अच्छा पक्षी बना देते ?"

"देखो भाई ! अब पक्षी भी तो जाति में बँट गये हैं ! हंस को ब्राह्मण मान लीजिए, बाज आदि आक्रमणकारी पक्षियों को क्षत्रिय और गौरैया जैसे संग्रही पक्षियों को वैश्य। अब ये महात्मा, लोमश मुनि, थे तो अभेदवादी, पर व्यवहार में पक्के भेदवादी थे। वे मुझ पर इतने रुष्ट हुए कि बोले—

सठ स्वपच्छ तव हृदयँ बिसाला।
सपदि होहि पच्छो चंडाला ॥ ७/११/१५

— 'अरे मूर्ख, तेरे हृदय में अपने पक्ष का बड़ा भारी हठ है, अतः तू शीघ्र चाण्डाल पक्षी (कौआ) हो जा!' मुनि को भय लगा कि यदि इसे मैं हंस या अन्य कोई पक्षी बना दूँ, तो कहीं भक्ति का पक्ष न लेने लगे, इसलिए उन्होंने मुझे केवल पक्षी ही नहीं बनाया, बल्कि कौआ बनाकर जात-बाहर भी कर दिया !"

"तो इसमें आपके आनन्दित होने की क्या बात थी ? यदि कोई अच्छा-सा पक्षी बनाते, तो भले ही आप आनन्द का अनुभव कर सकते थे।"

"बात यह है कि यदि मुझे हंस बना देते, तो मैं मानसरोवर भेज दिया जाता। यदि तोता-मैना बना देते, तो किसी पिंजड़े में बन्द हो जाता। कौआ को कोई पिंजड़े में बन्द नहीं करता। इसलिए कौए को घर के भीतर आने-जाने में कोई डर नहीं है, जबकि तोता-मैना घर के भीतर आने से डरते हैं कि कहीं कोई उनको पकड़कर पिंजड़े में न बन्द कर ले। अतः कौआ बनने से प्रभु के पास जाने के लिए मेरी गति अबाध बन गयी !"

गोस्वामीजी ने 'गीतावली' (अयोध्याकाण्ड,६६) में तोता और मैना का संवाद लिखा है, जो महाराज दशरथ के भवन में पिंजड़े में बन्द हैं और भगवान् के वन चले जाने पर आपस में बोलते हैं। गोस्वामीजी

लिखते हैं--

सुकसों गह्वर हिये कहै सारो।
वीर कीर! सिय-राम-लषन बिनु लागत जग अँधियारो॥
भैया भरत भावते के, सँग बन सब लोग सिधारो।
हम पँख पाइ पींजरनि तरसत अधिक अभाग हमारो॥

--एक सारिका (मैना) हृदय भरकर शुक से कहने लगी, "भैया कीर! सीता, राम और लक्ष्मण के बिना तो सारा संसार अन्धकारमय जान पड़ता है। अब प्यारे भाई भरत के साथ सब लोग वन को जा रहे हैं, परन्तु हम पंख पाकर भी पिंजड़ो में पड़े तरस रहे हैं--यह हमारा बड़ा भारी दुर्भाग्य ही है।"

किसी ने काकभुशुण्डिजी से कहा, "महाराज पिंजड़े में बन्द होकर रहते तो हानि क्या थी? आपको भोजन तो बढ़िया मिलता।" काकभुशुण्डि ने उत्तर में कहा, "देखो भाई, यह तो अपनी अपनी समझ का अन्तर है--कोई किसी भोजन को बढ़िया कहता है, तो कोई किसी को। मेरी समझ में तो सबसे बढ़िया भोजन मुझे इस कौए के रूप में मिला--

लरिकाईं जहँ जहँ फिरहिं तहँ तहँ संग उड़ाउँ।
जूठनि परइ अजिर महँ सो उठाइ करि खाउँ॥७।७५(क)

--प्रभु लड़कपन में जहाँ जहाँ फिरते, वहाँ वहाँ मैं भी साथ साथ उड़ता और आँगन में उनको जो जूठन पड़ती, उसे उठा-उठाकर खाता। इसीलिए--

ताते यह तन मोहि प्रिय भयउ राम पद नेह। ।१४४ (क)

--मुझे अपना यह काक-शरीर प्रिय है कि इसमें मुझे श्री रामजी के चरणों का प्रेम प्राप्त हुआ।"

यही दृष्टिकोण का परिवर्तन है। यह भुशुण्डिजी की भक्ति की परीक्षा थी। उन्हें काक-शरीर से दुःख न हो धन्यता का ही अनुभव हुआ, क्योंकि उन्होंने उसी शरीर से भक्ति और भगवान् को पा लिया। इसी प्रकार विभीषणजी भी रावण के चरण-प्रहार से विचलित नहीं होते। यदि वे रावण की लात खाकर अपमान का अनुभव करते और रावण के प्रति द्वेष से जलकर काँपने लगते, तो यह कोई अस्वाभाविक बात न होती। पर उनके साथ ऐसा न हुआ। रावण के चरण-प्रहार ने उनके अन्तःकरण में किसी और के चरण की स्मृति जगा दी। गोस्वामीजी लिखते हैं--

चलेउ हरषि रघुनायक पाहीं।
करत मनोरथ बहु मन माहीं॥
देखिहउँ जाइ चरन जल जाता।
अरुन मृदुल सेवक सुखदाता॥ ५/४१/४-५

--विभीषणजी को प्रभु के चरणों की याद हो आयी। संसार की कठोरता ने उन्हें भगवान् के चरणों की कोमलता की याद दिला दी। ऐसी ही घटना कैकेयीजी के जीवन में घटती है। उन्होंने तो अपनी बुद्धि के अनुसार अपने पुत्र भरत के कल्याण के ही लिए महाराज दशरथ से दो वर माँगकर राम को वनवास में भेजा था और भरत के लिए अयोध्या का राज्य चाहा था। जब

भरत ने कठोर शब्दों में उनकी निन्दा करते हुए कहा——

> **वर मागत मन भइ नहिं पीरा।**
> **गरि न जीह मुहँ परेउ न कीरा॥**
> **भूपँ प्रतीति तोरि किमि कीन्ही।**
> **मरन काल बिधि मति हरि लीन्ही॥ २।१६१।२-३**

——'वरदान माँगते समय तेरे मन में कुछ भी पीड़ा नहीं हुई? तेरी जीभ गल नहीं गयी? तेरे मुँह में कीड़े नहीं पड़ गये? राजा ने तेरा विश्वास कैसे कर लिया? जान पड़ता है, विधाता ने मरने के समय उनकी बुद्धि हर ली थी', तब कैकेयीजी को राम की याद आने लगी। जब राम उनके पास थे, तब उन्हें उनके गुण नहीं दिख रहे थे, पर जब भरतजी ने उनके प्रति कठोर शब्दों का प्रयोग किया, तो उन्हें लगने लगा कि देखो तो, एक पुत्र यह भरत है, जिसके लिए मैंने इतना अनर्थ किया और उससे मुझे यह सब सुनने को मिल रहा है, और दूसरा पुत्र राम है, जिसे मैंने वनवास दे दिया, फिर भी उसने वन जाते समय मेरा कितना ध्यान रखा, मेरे प्रति कितना आदर प्रदर्शित किया! भरतजी की फटकार से बार बार कैकेयी को श्री राम की याद आने लगी। बस, भरतजी प्रसन्न हो गये। वे चाहते भी यही थे कि किसी न किसी प्रकार से कैकेयी अम्बा को मुझमें दोष दिखायी दे और प्रभु में गुण, और इस प्रकार मेरे प्रति उनका जो ममता का धागा है, वह टूट जाय।

तो, यही बात विभीषण के साथ होती है। उनका

रावण के प्रति जो ममत्व-बोध का धागा था, आज वह रावण के चरण-प्रहार से टूट जाता है। मानो रावण की लात उनके हृदय पर न लगकर रावण के प्रति उनकी आसक्ति पर लगती है। फलस्वरूप वे निर्णय लेते हैं कि हम भगवान् की ओर चलेंगे। गोस्वामीजी कहते हैं कि विभीषण के जीवन में तब सौभाग्य की वह घड़ी उपस्थित होती है, जब वे बुराई से अपना सम्बन्ध पूरी तरह तोड़कर भगवान् की ओर चल पड़ते हैं। (क्रमशः)

पूजा-विज्ञान

स्वामी प्रमेयानन्द
(रामकृष्ण मठ, बेलुड़ मठ

(पूर्वार्ध)

'पूजा-विज्ञान' शब्द का व्यवहार यहाँ पर किसी वैज्ञानिक परिभाषा के अन्तर्गत नहीं किया गया है इस चर्चा का विषय किसी गूढ़ तत्त्व का वैज्ञानिक विचार या व्याख्या भी नहीं है। पूजा एक विज्ञानसम्मत साधना है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण लेकर यदि हम विज्ञान-प्रतिपादित विचार-विश्लेषण की पद्धति से अनुसन्धान करें, तो देखेंगे कि पूजा का हर सोपान युक्तियुक्त है और अच्छी तरह सोचकर बनाया गया है। शास्त्रों के निर्देशानुसार यदि पूजा ठीक ठीक सम्पन्न हो, तो उसके द्वारा साधक वांछित फल की प्राप्ति कर जीवन के चरम लक्ष्य को पा ले सकता है--यही समझाने लिए यहाँ पर 'पूजा-विज्ञान' शब्द का व्यवहार किया गया है।

स्वामी सारदानन्दजी द्वारा लिखित 'श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग' ग्रन्थ में पूजा-विज्ञान का मूल तत्त्व थोड़े से शब्दों में वड़ी सुन्दर और स्पष्ट रीति से व्यक्त हुआ है। वे बातें यद्यपि सूत्ररूप में हैं, तथापि इतनी स्पष्ट हैं कि किसी प्रकार की व्याख्या की आवश्यकता नहीं रखतीं। वहाँ कहा गया है, "जब तुम पूजन करने बैठते हो, उस समय सर्वप्रथम कुलकुण्डलिनी को मस्तकस्थित सहस्रार में चढ़ाकर तुम्हें ईश्वर के साथ अद्वैत रूप से

अवस्थान करने का चिन्तन करना पड़ता है; तदनन्तर पुनः उनसे अलग होकर तुमने जीवभाव धारण किया एवं ज्योतिस्वरूप ईश्वर घनीभूत होकर तुम्हारे पूज्य देवता के रूप में प्रकट हुए और तब तुम उनको अपने भीतर से बाहर लाकर पूजन करने लगे--तुमको इस प्रकार चिन्तन करना पड़ता है।" (द्वितीय खण्ड, पृ० २६६)

'कुलार्णवतन्त्र' में पूजा की व्याख्या करते हुए कहा गया है--

पूर्वजन्मानुशमनाज्जन्ममृत्युनिवारणात् ।
सम्पूर्णफलदानाच्च पूजेति कथिता प्रिये ।। १७/७०

'जो क्रिया पूर्वजन्म से चले आये कर्मप्रवाह को रोकती है, जन्म-मृत्यु को दूर करती है तथा सम्पूर्ण फल प्रदान करती है, उसी को पूजा कहते हैं।' सम्पूर्ण फल प्रदान करने का अर्थ है वांछित फल देना--भगवान् के निकट भक्त का, उपास्य के निकट उपासक का पूरी तरह आत्मसमर्पण। पूज्य में पूजक का आत्मलय ही पूजा का सम्पूर्ण अर्थात् वांछित फल है, वही पूजा की परिसमाप्ति है। इस प्रसंग में श्रीरामकृष्ण द्वारा अपने साधना-यज्ञ के समापन काल में जो षोड़शी-पूजा की घटना हुई थी, उसका स्मरण हो आता है। उनकी जीवनी के पाठक यह जानते हैं कि श्रीरामकृष्णदेव ने अपनी सुदीर्घ बारह वर्ष व्यापी बहुविध साधनाओं का समापन अपनी पत्नी श्री सारदा देवी के शरीर के माध्यम से आद्याशक्ति की षोड़शी-रूप से पूजा करके

किया था। उनकी उस विलक्षण पूजा की परिसमाप्ति का वर्णन 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग' में यों किया गया है-- "समाधि-मग्न पूजक समाधिस्थ देवी के साथ आत्मस्वरूप में सम्मिलित तथा एकीभूत हो गये।" (प्रथम खण्ड, पृ० ४३२) यहीं पूजा-विज्ञान की सार्थकता है। इसमें सन्देह नहीं कि ठाकुर की यह साधना पूजा-विज्ञान के समर्थन एवं विजययात्रा की शुभ सूचना देती है।

पूजा की एक अन्य व्याख्या में पूजा का लक्ष्य स्पष्ट रूप से निर्देशित हुआ है। वहाँ कहा है कि सेवक और ईश्वर का ऐक्य ही पूजा है (**'योगो जीवात्मनोरैक्यं पूजनं सेवकेशयोः'--'महानिर्वाणतंत्रम्', १४/१२३**)। उपास्य और उपासक के इस एकत्व-बोध की चरम परिणति ही आत्मा के स्वरूप की उपलब्धि या ब्रह्मोपलब्धि है। और पूजा उसी लक्ष्य में पहुँचने का अन्यतम सोपान है। 'गीता' में भी इस बात का स्पष्ट संकेत है कि पूजादि समस्त कर्मों की चरम परिणति आत्मस्वरूप की उपलब्धि या ब्रह्मोपलब्धि में होती है। वहाँ कहा गया है कि द्रव्यसाध्य यज्ञ अर्थात् पूजादि यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है; क्योंकि यज्ञ-उपासनादि समस्त कर्मों की परिसमाप्ति ज्ञान में ही होती है।[1] कहना न होगा कि पूर्णज्ञान और ब्रह्मोपलब्धि में कोई भेद नहीं है।

---

१. श्रेयान्द्रव्यमयाद् यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ४/३३

'देवीभागवत' में कहा गया है कि पूजा दो प्रकार की है—बाह्य और आभ्यन्तर। फिर बाह्य पूजा के भी दो भाग हैं—वैदिक और तांत्रिक।[२] भारत की आध्यात्मिक विचारधारा के सुनियंत्रण में वैदिक और तांत्रिक ये दो धाराएँ अत्यन्त प्राचीन काल से एक दूसरे से अंगांगी भाव से मिली हुई हैं। वास्तव में वेदों का 'यज्ञ' और तंत्रों की 'पूजा' ये दोनों समानार्थक हैं तथा यज्ञ एवं पूजा दोनों का मूल उद्देश्य भी एक ही है। "अत्यन्त प्राचीन काल से वेदों के दार्शनिक सिद्धान्त तत्र के पूजादि अनुष्ठानों के साथ युक्त होकर एक दूसरे के अभाव को दूर करते आ रहे हैं। किसी किसी मांगलिक अनुष्ठान में यज्ञ और पूजा दोनों अपरिहार्य होते हैं। वेदों की देन है यज्ञ और तंत्रों की देन है पूजा। वेद और तंत्र परस्पर परिपूरक हैं।"[३] वैदिक धारा का आधार है वेद-उपनिषद्, दूसरी ओर तांत्रिक धारा का आधार है असंख्य तंत्रग्रन्थ। कहना न होगा कि वेद के चरम तत्त्व ब्रह्म और तंत्र के चरमतत्त्व शक्ति में किसी प्रकार का पारमार्थिक भेद नहीं है। तंत्र के निर्देशानुसार जो सारी पूजाएँ होती हैं, उन्हें तांत्रिक पूजा कहते हैं और वेदों के अनुशासन का पालन करते हुए जो पूजाएँ की जाती हैं, उन्हें वैदिक पूजा कहा जाता है। पूजा के इन सामान्य विभागों के

---

२. द्विविधा मम पूजा स्याद् बाह्या चाभ्यन्तरापि च।
बाह्यापि द्विविधा प्रोक्ता वैदिकी तांत्रिकी तथा॥ ७/३९/३
३. 'चण्डीचिन्ता' (बँगला), डा० महानामव्रत ब्रह्मचारी, पृ. ६।

अतिरिक्त उसमें साधारा, निराधारा, नित्य, नैमित्तिक, काम्य, तामसिक, राजसिक, स्वाभाविक आदि और भी बहुत से भेद हैं। पर पूजा का बाह्य और आभ्यन्तर के रूप में यह प्रमुख विभाजन ही हमारे प्रस्तुत लेख का विषय होगा।

'महानिर्वाणतंत्र' में बाह्य पूजा को 'अधमाधम' कहा है।[४] पर यहाँ पर 'अधमाधम' शब्द का उपयोग हेय या निन्दा के अर्थ में नहीं हुआ है, बल्कि यहाँ स्वीकार किया गया है कि अधिकारी-भेद से बाह्य पूजा साधना के लक्ष्य तक पहुँचने का एक सुनिश्चित सोपान है, साधना का आधार है। 'महानिर्वाणतंत्र' में जो 'उत्तम' आदि बातें लिखी हैं, उनका सही अर्थ न समझने से भ्रमित होने की सम्भावना है। "पूजा के दो रूप हैं-- बाह्य और आन्तर। दोनों का मूल्य समान है। किसी किसी की धारणा होती है कि बाह्य पूजा से मानसपूजा श्रेष्ठ है और निम्न अधिकारी ही बाह्य पूजा करेगा। पर यह धारणा ठीक नहीं है। ...वास्तव में भीतर और बाहर दोनों को मिलाकर ही पूजा की समग्रता होती है।"[५]

साधना में अधिकारी-भेद स्वीकार करना पड़ता है--विशेषकर आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में। साधक

---

४. उत्तमो ब्रह्मसद्भावो ध्यानभावस्तु मध्यमः।
स्तुतिर्जपोऽधमो भावो बहिः पूजाधमाधमा ॥ १४/१२२

५. 'चण्डीचिन्ता', पृ० १२५-२६।

की रुचि, समझने की शक्ति और योग्यता के अनुसार शास्त्र में साधना के विधान भी अलग अलग हैं। श्रीरामकृष्ण कहते हैं--"रुचि-भेद और अधिकारी-भेद है।" "घर में मछली आयी है। जिसके पेट में जैसा सहे, माँ उसी प्रकार की रसोई तैयार करती है।" यद्यपि ब्रह्मज्ञान अथवा ब्रह्मोपलब्धि साधना की चरम परिणति है, अन्तिम अवस्था है, तथापि अधिकारी-भेद से क्रममुक्ति के उपायस्वरूप पूजा और उपासना आदि का विधान शास्त्रसम्मत है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं--"धर्मसाधना की प्रथम अवस्था में व्यक्ति को कुछ बाहरी सहायता की आवश्यकता होती है। जब चित्त बहुत कुछ शुद्ध हो जाता है, तब मन को क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर विषयों में लगाया जा सकता है।" पूजा में साधक जितना ही आगे बढ़ता है, उतनी ही उसके "चित्त की मलिनता दिनोंदिन दूर होती जाती है। एक स्वर्गिक शान्ति, एक अपूर्व आनन्द धीरे धीरे उसके हृदय में आकर छा जाता है।... तब वह सत्य और प्राण में प्रतिष्ठित हो जाता है, उसके द्वारा उच्चारित मंत्र चैतन्यमय हो उठते हैं। मंत्र के उच्चारण के साथ साथ उसका बुद्धिरूप आधार भी परिवर्तित होता रहता है। तब वह परमेश्वर की पूजा कर आत्मतृप्तिरूप सच्चे फल को प्राप्त कर कृतार्थ हो जाता हैं।" उस अवस्था में साधक के लिए पूजा के रूप में और कोई अलग से उपासना नहीं रह जाती।

६. 'पूजातत्त्व' (बँगला), ब्रह्मर्षि सत्यदेव, पृ.१३-१४।

समग्र जीवन ही तब उसके लिए पूजा है--'यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्'--मैं दिनरात जो कर्म करता हूँ, वह सब तुम्हारी आराधना छोड़ और कुछ नहीं है। इसी को स्वाभाविक पूजा कहते हैं। स्वाभाविक पूजा का यह भाव शंकराचार्य-विरचित 'सौन्दर्यलहरी' स्तोत्र के एक श्लोक में (टीकाकार लक्ष्मीधर के अनुसार २७वें श्लोक में, दूसरे के अनुसार २८वें में) बड़े सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त हुआ है। वहाँ कहा गया है--"देवी, मेरा इच्छानुसार आलाप तुम्हारा जप हो, हाथों का हिलना-डुलना तुम्हारे उद्देश्य से मुद्रा बने, मेरा यदृच्छा-गमन तुम्हारी प्रदक्षिणा हो, भोजनादि तुम्हारे निमित्त आहुति हों, यदृच्छा-शयन तुम्हारे प्रति साष्टांग प्रणाम हो। हे आत्मस्वरूपिणी, मैं जो रूप-रस-गन्ध-स्पर्शादि सुखकर वस्तुओं का ग्रहण करता हूँ और जो विभिन्न क्रियाएँ करता हूँ, वह सब तुम्हारे प्रति समर्पण-बुद्धि से होने के कारण तुम्हारी पूजा हो जाय।"[७] साधक रामप्रसाद का भी इसी भाव को व्यक्त करनेवाला एक गीत है--

> शयने प्रणाम ज्ञान, निद्राय करो माके ध्यान,
> आहार करो मने करो आहुति दिइ श्यामा मा रे।

---

७. जपो जल्पः शिल्पं सकलमपि मुद्राविरचनं
गतिः प्रादक्षिण्यं भ्रमणमशनाद्याहुतविधिः।
प्रणामः संवेशः सुखमखिलमात्मार्पणदृशा
सपर्यापर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम्॥

जतो शोनो कर्णपुटे, सबइ मायेर मंत्र बटे,
कालो पंचाशत् वर्णमयी वर्णे वर्णे नाम धरे।
आनन्दे रामप्रसाद रटे, मा बिराजेन सर्वघटे,
नगर फेरो मने करो प्रदक्षिण श्यामा मा रे।।

पूजा के दो पक्ष हैं-- बाह्य और मानस। एक बाहरी और दूसरा भीतरी। बाह्य पूजा का अनुष्ठान जब मन में होता है, तब उसे आभ्यन्तर या मानस पूजा कहते हैं। इस आभ्यन्तर और बाह्य दोनों को मिलाकर पूजा समग्र होती है। शास्त्र में भी कहा है--'सर्वासु बाह्यपूजासु अन्त:पूजा विधीयते'--बाह्य पूजा के साथ साथ आभ्यन्तर पूजा भी करनी चाहिए। 'महानिर्वाणतंत्र' में आद्याकाली की आभ्यन्तर पूजा के सन्दर्भ में जो नियम दिये हुए हैं, उनसे आभ्यन्तर पूजा का सामान्य परिचय प्राप्त होता है। वहाँ लिखा है--"देवी को हृदयकमल में आसन देना, चरण-प्रक्षालन के लिए सहस्रार से चुआ अमृत पाद्य के रूप में देना, मन का अर्घ्य देना। उस सहस्रार से चुए अमृत को ही देवी का स्नानीय और पानीय बनाना। आकाशतत्त्व देवी का वस्त्र बनेगा, गन्धतत्त्व सुगन्धि का काम करेगा। चित्त को पुष्प बना लेना, प्राण को धूप, तेजतत्त्व को दीप तथा अमृतसमुद्र को नैवेद्य समझना। अनाहत ध्वनि घण्टा बनेगी और वायुतत्त्व बनेगा चामर। समस्त इन्द्रिय-क्रियाएँ और मन की चंचलता नृत्य होगी। अपनी अभिलषित भावसिद्धि के लिए देवी को विविध प्रकार के

पुष्प अर्पित करने होंगे। जिन दस पुष्पों की बात कही गयी है, वे हैं-अ—माया, अनहंकार, अ-राग यानी अनासक्ति, अ-मद, अ-मोह, अ-दम्भ, अ-द्वेष, अ-क्षोभ, अ-मात्सर्य एवं अ-लोभ। इनके अतिरिक्त और भी पाँच पुष्प हैं—अहिंसा, इन्द्रिय-निग्रह, दया, क्षमा एवं ज्ञान। इन पन्द्रह भाव-पुष्पों के द्वारा देवी की पूजा करनी होगी।"[८]

पूजा का फल अवश्यम्भावी है। "किन्तु अगहीन होने से अथवा विधि और श्रद्धारहित होने से पूजा का सम्पूर्ण फललाभ असम्भव है, बल्कि कभी कभी विपरीत फल भी होता है। जिस पूजा में जैसे उपकरण की आवश्यकता है, वह परिश्रमसाध्य होने पर भी जुटा लेना होगा। जिन कारणों के संयोग से जिस विशेष फल की उपलब्धि होती है, उन सभी का एकत्र संयोग आवश्यक है।"[९] यदि वांछित फल न मिल पाये, तो दोष पूजा-विज्ञान का नहीं, पूजा-विधि के उल्लंघन का होगा। "रसायन विज्ञान में पारगत होने के लिए यदि कोई त्रिसन्ध्या-स्नान, हविष्यान्न भोजन और निर्जन में बीज मन्त्र का जप करता रहे, तो उसकी फल की आशा कहाँ?... लोग कहते हैं 'जिस विवाह का जो मंत्र है', उसका उच्चारण वैसा ही होना चहिए।... श्रद्धा-हीन, विधिहीन, मंत्रहीन और दक्षिणाहीन पूजा करके

८. 'महानिर्वाण-तन्त्रम्', ५/१४३-४६; 'शास्त्रमूलक भारतीय साधना' (बंगला), उपेन्द्रनाथ दास, १३७३ बंगाब्द, पृ. ८१७।
९. 'भारत में शक्ति पूजा', स्वामी सारदानन्द, पृ. ८।

कहें कि पूजा का फल तो नहीं मिला'[१०] तो कैसे होगा? इसीलिए जिस पूजा में जिस प्रकार के अनुष्ठानादि का निर्देश हो, उसमें ठीक वैसा ही करना चाहिए।

यदि हम अनुष्ठानों के सम्बन्ध में प्राप्त शास्त्र-निर्देश को ध्यान से देखें, तो हम पाएँगे कि प्रत्येक अनुष्ठान का अलग अलग अर्थ है और उस अर्थ को जान लेकर पूजा करने से उसमें अधिक रुचि उत्पन्न होगी। शास्त्र में कहा है--'अर्थज्ञानस्य कर्मानुष्ठानांगत्व, नह्य-र्थं ज्ञानमन्तरेण अनुष्ठानं सम्भवति' (मीमांसा न्यायप्रकाश) --अर्थज्ञान कर्मानुष्ठान का अंग है, अर्थज्ञान के बिना सही कर्मानुष्ठान सम्भव नहीं होता। अनुष्ठान का तात्पर्य समझकर उसे करने से उसके प्रति स्वाभाविक ही पूजक की श्रद्धा और प्रतीति दृढ़ होती है। तब ऐसा नहीं लगता कि अनुष्ठान कुछ यन्त्रवत् शुष्क क्रियाएँ मात्र है, बल्कि ऐसी निश्चित धारणा होती है कि वह सिद्धिलाभ का अवलम्बन है। अनुष्ठान का सही अर्थ और मर्म यदि समझ में आ जाय, तो पूजक उस अनुष्ठान की सार्थकता और प्रयोजन को समझ ले सकता है। तब उसके सामने मंत्र, नैवेद्य आदि सारे उपकरण, न्यास, प्राणायाम, भूतशुद्धि, ध्यान आदि जो पूजा के विभिन्न अंग हैं, उनकी सार्थकता स्पष्ट हो जाती है और वह समझ लेता है कि इन सबका चरम लक्ष्य ईश्वरानुभूति है।

कहना बाहुल्य होगा कि अभीष्ट फल पाने के

१०. उपर्युक्त, पृ० ८-९।

लिए जैसे अनुष्ठान के अर्थ को जानना आवश्यक है, वैसे ही मंत्र के अर्थ को जानना भी समान रूप से प्रयोजनीय है। जो अर्थ को समझते हुए मंत्रपाठ करता है, वह समूचा फल प्राप्त करता है। यह युक्तिसगत बात है कि मंत्र के अर्थ पर चिन्तन करने से उपासक यह समझ ले सकेगा कि वह उस मंत्र के द्वारा देवता के पास क्या चाह रहा है। वह यह भी अनुभव करेगा कि मंत्र का अर्थ कितना गहरा, व्यापक और हृदयग्राही है। अतएव पूजा को यदि सार्थक बनाना है, तो उपासक के लिए यह नितान्त आवश्यक हो जाता है कि वह मंत्र एवं अनुष्ठान दोनों का अर्थ ठीक ठीक समझ ले।

पूजा में सिद्धिलाभ के लिए मंत्रपाठ और अनुष्ठान आदि के साथ साथ कर्मांग के अनुरूप अनुभूति का विकास करना भी नितान्त प्रयोजनीय है। पूजा का जो मर्मगत लक्ष्य है, साधक को उसी भाव में पूजा के प्रारम्भ से ही डूबना पड़ता है। शास्त्र का भी निर्देश है --'देवो भूत्वा देवं यजेत्'--अपने को देवस्वरूप सोचते हुए देवपूजा करनी चाहिए। जिसकी जैसी भावना होती है, उसे उसी के अनुरूप सफलता भी मिलती है-- 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी'। ईश्वर का चिन्तन करते करते साधक ईश्वरत्व का लाभ करता है।

वस्तुमात्र ही स्वरूपतः ब्रह्म है, तथापि नाना संस्कारों के आवरण से वस्तु का वह स्वरूप ढका रहता है, बाहर प्रतिभात नहीं हो पाता। जब साधक वस्तु के

स्वरूप पर चिन्तन करता है, तब वह चिन्तन वस्तु के बाहरी आवरण का भेद कर साधक के मन को वस्तु के स्वरूप में निविष्ट कर देता है। इसीलिए पूजा के समय ऐसा निर्देश दिया जाता है कि अपने चिन्मय स्वरूप में मन को निविष्ट कर लो। और केवल पूजक ही क्यों, समस्त पूजा के उपकरणों के प्रति देवत्व की भावना करने का निर्देश हमें शास्त्रों में प्राप्त होता है। पूजा के उपकरणों को देवता-दृष्टि से देखने पर वे उपकरण शुद्ध हो जाते हैं, देवत्व को प्राप्त होते हैं---'सर्वेषां देवता दृष्टचा जायते शुद्धतापि च' ('गन्धर्वतंत्र', १३/३-५)।-

ऊपर ऊपर से देखने पर पूजा के विभिन्न अंग और क्रियाएँ बहुधा निरर्थक और व्यर्थ प्रतीत होती हैं, पर अच्छी तरह देखने पर पता चलेगा कि पूजक के विशुद्ध भाव से पूजामण्डप में प्रवेश करने के निर्देश से लेकर निर्दिष्ट दिशा की ओर मुँह करके पूजासन पर बैठना, आचमन, विभिन्न शुद्धि, न्यास, उपचार-निवेदन और प्रणाम तक के हर अनुष्ठान का एक विशेष तात्पर्य है और उसकी सार्थकता है। सार्थकता की दृष्टि से पूजा का कोई भी अंग न तो व्यर्थ है, न निरर्थक। अनुष्ठानों का चुनाव ऐसा सुचिन्तित और विज्ञान-सम्मत है कि ये धीरे धीरे साधक को पूजा के चरम लक्ष्य---पूज्य और पूजक के ऐक्य---की ओर ले जाते हैं।

यद्यपि पूजातत्त्व ही सामान्य रूप से हमारे विवेचन का विषय है और इसीलिए पूजा का शास्त्रीय पक्ष ही अब तक विशेष रूप से विवेचित हुआ, तथापि यह स्मरण

रखना होगा कि पूजा एक साधना है। और उस साधना में सिद्धिलाभ करने के लिए जैसे प्रत्येक अंग निर्दोष होगा, उसी प्रकार पूरे अनुष्ठान का भक्ति, श्रद्धा, अनुराग और प्रेम से भरा होना आवश्यक है। वस्तुतः शेषोक्त भाव ही पूजा का प्रधान उपकरण है। 'गीता' में भी कहा है--"जो मुझे भक्तिपूर्वक पत्र, पुष्प, फल और जल अर्पित करता है, मैं उसका वह भक्ति-उपहार प्रेमपूर्वक ग्रहण करता हूँ।"[११] एक वैष्णव-साधक के गीत में यह भाव बड़े ही सुन्दर रूप से व्यक्त हुआ है। उस गीत में कहा है--

> **मन-तुलसी भक्ति-चन्दन जे जन ताँर दिते पारे,**
> **शिलार पृष्ठे काठेर चन्दन घस्ते हय ना बारे बारे।**
> **साजिभरा बनफूले पूजा हय ना कोनो काले,**
> **फूलेर पूजा सबाइ करे मधु लुटे नेय मधुकरे॥**

--अर्थात् 'जो व्यक्ति ईश्वर को मनरूपी तुलसी और भक्ति का चन्दन दे सकता है, उसे पत्थर पर बार बार काठ के चन्दन को घिसने की जरूरत नहीं पड़ती। डलिया-भरे वनफूल से कभी पूजा नहीं होती। फूल की पूजा तो सभी करते हैं, पर मधु तो मधुकर लूट लेता है।' इष्ट-देवता के चरणों में 'मन-तुलसी' और 'भक्ति-चन्दन' अर्पित करने में पूजा की सार्थकता है। * (क्रमशः)

---

११ पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ ९।२६

* 'उद्‌बोधन' बँगला मासिक के नवम्बर १९८१ अंक से साभार गृहीत और अनुवादित।

स्वधर्म में मरना श्रेयस्कर

(गीताध्याय ३, श्लोक ३०-३५)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।

निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

सर्वाणि (सभी) कर्माणि (कर्मों को) मयि (मुझमें) संन्यस्य (समर्पित कर) अध्यात्मचेतसा (चित्त को आत्मा में केन्द्रित कर) निराशीः (आशारहित) निर्ममः (ममतारहित) विगतज्वरः (सन्तापरहित) भूत्वा (हो) युध्यस्व (युद्ध कर) ।

"सभी कर्मों को मुझमें समर्पित करते हुए, चित्त को आत्मा में केन्द्रित कर, आशारहित, ममतारहित और सन्तापरहित हो युद्ध कर ।"

पूर्व के श्लोकों में भगवान् कृष्ण ने विद्वान् और अज्ञ, तत्त्ववेत्ता और अहंकारविमूढ़ात्मा तथा कृत्स्नवित् और अकृत्स्नवित् के अन्तर को प्रकट किया । यह कहा कि विद्वान् को स्वयं कर्म में लगे रहकर अज्ञों को भी कर्म में लगाना चाहिए । दोनों में अन्तर यह है कि विद्वान् तत्त्ववेत्ता होने के कारण स्वयं को कर्म का कर्ता नहीं मानता, जबकि अज्ञ अहंकार से मोहित होने के कारण अपने को कर्ता समझता है । यह सुनकर अर्जुन के मन में उठा कि मुझे क्या करना चाहिए इसका यदि स्पष्ट निर्देश श्रीकृष्ण से मिल जाता, तो बड़ा उत्तम होता ।

प्रभु तो अन्तर्यामी हैं। वे प्रस्तुत श्लोक में यह बता रहे हैं कि अर्जुन को क्या करना चाहिए। वैसे तो २०वें श्लोक में भी भगवान् ने अर्जुन से कहा है—'लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि'——'लोकसंग्रह को देखते हुए भी तेरे लिए कर्म करना योग्य है,' पर स्पष्ट रूप से यह नहीं बताया है कि लोकसंग्रह का कर्म किस प्रकार होता है। अब यहाँ पर बताते हैं कि लोकसंग्रह का कर्म किस प्रकार किया जाता है।

विवेच्य श्लोक में 'युध्यस्व' (युद्ध कर) व्यक्ति के स्वभावप्राप्त कर्म को सूचित करता है। अर्जुन के लिए युद्ध ही स्वभावप्राप्त या सहज कर्म है, वही उसका स्वधर्म है। यदि कोई व्यक्ति शिक्षक है, तो उसका स्वभावप्राप्त कर्म है अध्ययन-अध्यापन। व्यापारी का सहज कर्म है व्यापार। श्रमिक का सहज कर्म है शारीरिक श्रम। हर प्रकार का कर्म करनेवाला लोकसंग्रह हेतु कर्म कर सकता है। श्रमिक या व्यापारी का कर्म भी लोकसंग्रहार्थ हो सकता है। अपने अपने सहज कर्म से न डिगते हुए मनुष्य उसे लोकसंग्रहार्थ कैसे बनाए, इसका उपाय प्रस्तुत श्लोक में प्रदर्शित हुआ है। यहाँ पर पाँच लक्षण बताये गये हैं, जिनसे युक्त होने पर कर्म लोकसंग्रहार्थ बन जाता है। पहला लक्षण है——'सब कर्मों का संन्यास परमात्मा में करना'। दूसरा लक्षण है——'अध्यात्मचेतसा' (चित्त को आत्मा में केन्द्रित करना)। शेष तीन लक्षण हैं——'निराशीः' (आशारहित),

'निर्मम:' (ममतारहित) और 'विगतज्वरः' (सन्ताप-रहित)। यदि हमारा कर्म इन पाँचों लक्षणों से युक्त होता है, तो वह लोकसग्रहार्थ बन जाता है। कर्म के लोकसंग्रहार्थ होने का तात्पर्य यह है कि उसका कोई ब्रन्धन कर्ता पर नहीं लगता तथा वह अन्य दूसरों के लिए प्रेरणा का स्रोत होता है। लोकसंग्रही व्यक्ति का कर्म समाज को सतत सत्कर्म की ओर प्रेरित करता है। अब हम जरा इन पाँच लक्षणों का विवेचन करे।

(१) 'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य'--कर्ता अपने समस्त कर्मो का ईश्वर में संन्यास करे अर्थात् वह कर्मों का कर्तापन और उनसे प्राप्त होनेवाले फलों का भोक्तापन ईश्वर को समर्पित करे। इस भाव को साधने के लिए कर्म के प्रारम्भ, मध्य और अन्त में प्रभु का स्मरण करे और सोचे कि कर्म की प्रेरणा और शक्ति प्रभु की ही दी हुई है। कर्म का अनिवार्यतः जो फल प्राप्त होगा, उसे मन ही मन प्रभु को सौंपे--नैवेद्य के रूप में प्रभु को अर्पित करे और उनके प्रसाद के रूप में उसे ग्रहण करे।

(२) 'अध्यात्मचेतसा'--प्रथमोक्त लक्षण के साथ साथ अपने चित्त को आत्मा में केन्द्रित करे। सामान्यतः हमारा चित्त या तो देह में केन्द्रित होता है अथवा मन में। फलस्वरूप हम परमात्मा में अपने कर्मों का ठीक ठीक संन्यास नहीं कर पाते। यह दूसरा लक्षण पहले लक्षण को पुष्ट करता है। यदि हमारी आसक्ति देह पर बहुत बनी रही, तो हम अपने कर्मों की प्रेरणा

के सन्दर्भ में ईश्वर का सही सही चिन्तन नहीं कर पाएँगे। मुँह से हम भले ही बोलते रहें कि 'प्रभो, यह कर्म तुम्हें समर्पित करता हूँ, पर वह मात्र बोल ही रहेगा, उसके अर्थ की प्रतीति अन्तःकरण में नहीं होगी। जैसे हम अपने पुत्र को लेकर किसी विशिष्ट जन या साधु-महात्मा के पास जाते हैं और बेटे का परिचय देते हुए उनसे कहते हैं--'यह आपका बेटा है!' हम भले ही मुख से अपने बेटे के लिए 'आपका बेटा' कहते हों, पर शत-प्रतिशत हमारे मन में यही भाव बना रहता है कि बेटा मेरा है --और सम्पूर्णतः मेरा है। ठीक यही बात अपने कर्मों को भगवान् के प्रति समर्पित करने के सन्दर्भ में लागू होती है। वह बात मात्र शाब्दिक होती है, उसके पीछे अनुभूति की तनिक भी मात्रा नहीं होती। स्वामी विवेकानन्दजी अपने गुरुदेव भगवान् श्रीरामकृष्ण की वन्दना करते हुए लिखते हैं--

> भक्तिर्भगश्च भजनं भवभेदकारि
> गच्छन्त्यलं सुविपुलं गमनाय तत्त्वम्।
> वक्त्रोद्धृतन्तु हृदये न च भाति किंचित्
> तस्मात्त्वमेव शरणं मम दीनबन्धो॥

--'संसार का भेदन करनेवाली भक्ति, वैराग्य और उपासना आदि की सहायता से मनुष्य अति महान् ब्रह्म-तत्त्व तक पहुँचने में समर्थ होता है, इस तरह के वाक्य मेरे मुख से उच्चारित तो होते हैं, पर फिर भी हृदय में कुछ भी आभास नहीं होता; इसलिए हे दीनबन्धो, तुम ही मेरे आश्रय हो।'

उसी प्रकार जब हमारा चित्त मन पर आसक्त हो जाता है, तब हमारा ममत्व संसार के पदार्थों और व्यक्तित्वों में घूमने लगता है, वह ईश्वर को अपना केन्द्र या आधार नहीं बनाता। इसीलिए जब तक हम अपने चित्त को देह और मन से हटाकर आत्मा में केन्द्रित करने की चेष्टा नहीं करेंगे, तब तक ईश्वर के प्रति हमारा कर्म-समर्पण भी पुष्ट नहीं होगा।

(३) 'निराशीः' –– तीसरा लक्षण है आशारहित होना। यह भाव हमारी मन के प्रति आसक्ति को दूर करने में सहायक होता है। हमारा चित्त आशा के कारण ही मन से चिपकता है। भविष्य का ताना-बाना बुनना मानो आशा-डोर को बँटना है। भविष्य का अधिक विचार ईश्वर के प्रति हमारे समर्पण को शिथिल करता है। 'आशा' शब्द भविष्य की ऐसी चिन्ता सूचित करता है, जिसमें उद्यम का सर्वथा अभाव हो। लोक-संग्रह हेतु कर्म करनेवाले व्यक्ति को भविष्य के सम्बन्ध में चिन्ता करनेवाली आशा से बचना चाहिए। पर 'निराशीः' का तात्पर्य हताशा भी नहीं लेना चाहिए। भगवान् यह उपदेश नहीं देते कि व्यक्ति निराश और हतोत्साहित हो जाय। हताशा या निराशा और आशा में एक अन्तर है। पहले में देह और मन दोनों अवसन्न हो जाते हैं, दोनों की क्रियाशीलता बाधित हो जाती है, जबकि दूसरे में मन तो क्रियाशील रहता है, पर देह अवसन्न रहती है। हमें इन दोनों से बचना है –– न तो

निराशा का शिकार होना है, न आशा का।

(४) 'निर्मम:'--चौथा लक्षण है निर्मम --ममतारहित होना। यह भाव चित्त को देह से चिपकने से बचाएगा। सारे ममत्व की जड है देह। देह के सम्बन्ध ही हमारे भीतर ममता उपजाते हैं और चित्त को देह में अटकाकर रखते हैं। जैसे आशा हमें भविष्य से उलझाकर रखती है, वैसे ही ममता भूतकाल से। हम अपने देह-सम्बन्धों के प्रति ममत्व के कारण अपने कर्तव्य-कर्म ठीक से नहीं कर पाते और आत्मतत्त्व से दूर चले जाते हैं। इसीलिए ममतारहित होने का उपदेश भगवान् कृष्ण करते हैं। लेकिन यहाँ 'निर्मम' से 'निष्ठुरता' का तात्पर्य नहीं लेना चाहिए। निर्मम का एक अर्थ निष्ठुर भी होता है, पर यहाँ उसका प्रयोग निष्ठुरता के अर्थ में न हो ममत्वशून्यता के अर्थ में है। ममत्व हमारी दृष्टि में पक्षपात पैदा कर देता है। इसीलिए हमारा चित्त देह की सीमा में अटक जाता है।

(५) 'विगतज्वर:' --पाँचवा लक्षण है घबड़ाहट या सन्ताप से रहित होना। कर्म करते समय यदि हमारी बुद्धि में क्षोभ या आवेश हो, तो हमारा कर्म बढ़िया नहीं हो पाता। 'क्षोभ' और 'आवेश' ज्वर के दो लक्षण हैं और ज्वर के ये दोनों ही लक्षण हमारे कर्म को निस्तेज बना देते हैं। क्षोभ से कर्म में घबड़ाहट पैदा होती है और आवेश रोष को जन्म देता है। दोनों ही बुद्धि की चंचलता सूचित करते हैं। ज्वर की ऐसी

स्थिति में बुद्धि उचित-अनुचित का विचार नहीं कर पाती। इस पाँचवें लक्षण के द्वारा भगवान् यह सूचित करते हैं कि कर्म करते समय हमारी चित्त की स्थिति कैसी होनी चाहिए।

इस प्रकार इन पाँच लक्षणों के द्वारा भगवान् कृष्ण लोकसंग्रहार्थ कर्म का एक बड़ा ही सुन्दर विवेचन प्रस्तुत करते हैं। हमारा चित्त या तो अतीत की उधेड़-बुन में लगा रहता है, या फिर भविष्य का ताना-बाना बुनता रहता है। 'निर्ममः' और 'निराशीः' कहकर भगवान् चित्त को अतीत और भविष्य के भटकाव से बचाकर, 'युध्यस्व' कहकर वर्तमान में उसे केन्द्रित करते हैं। हम यदि आवेश और क्षोभ से रहित हों, भूत और भविष्य की चिन्ता छोड़, वर्तमान के कर्म में भगवत्समर्पित भाव से अपने चित्त को निविष्ट करेंगे, तो वह देह और मन की आसक्ति से ऊपर उठ आत्मतत्त्व में बैठेगा और तब हम सही अर्थों में अपने समस्त कार्यों का फलसहित संन्यास परमात्मा में करने में समर्थ होंगे। तब हम अपनी समस्त चेष्टाओं के पीछे अपने अहंकार को प्रेरक के रूप में न देख उस ईश्वर को देखेंगे, जो हमारे जीवन का आधार है। यही लोकसंग्रहार्थ कर्म का स्वरूप है। अर्जुन को भगवान् कृष्ण इसी प्रकार कर्म करने का आदेश देते हैं और उनके माध्यम से विश्व के सभी साधकों को। 'निराशी', 'निर्मम' और 'विगतज्वर' शब्दों से ऐसा कुछ ध्वनित होता है, मानो भगवान् कृष्ण जीव

को जड़ या मुर्दा बन जाने का उपदेश देते हों, क्योंकि जड़-पाषाण या मुर्दा ही इन गुणों से विभूषित होता हैं, चेतनायुक्त जीव नहीं। पर 'युध्यस्व' कहकर भगवान् जड़ता को समाप्त कर देते हैं। उनका तात्पर्य यही है कि अहं ही मनुष्य में आशा, ममता और ज्वर का संचार करता है। यदि अहं को वह ईश्वर को सौंप दे, तो सात्त्विक दृष्टि से वह मर ही जाता है और जब कर्म करता है, तो अपने को ईश्वर का यंत्र मानकर।

भगवान् श्रीकृष्ण ने विवेच्य श्लोक में ईश्वर या परमात्मा में कर्मों के समर्पण की बात न कह, 'मुझमें सब कर्मों के संन्यास' की बात कही। तात्पर्य यह कि वे अपने ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति इस 'मयि' शब्द के द्वारा करते हैं। वे यह प्रदर्शित करते हैं कि वही निर्गुण निराकार ब्रह्म कृष्ण के रूप में मूर्तिमान् हुआ है। छठे अध्याय के ३०वें, ३१वें और ४७वें श्लोकों में भी वे अपनी इसी महिमा का उद्घाटन करते हैं और सातवें अध्याय के प्रारम्भ में तो यह स्पष्ट कर देते हैं कि यह दीखनेवाला विश्व-संसार उन्हीं की अपरा और परा इन दो प्रकृतियों का खेल है तथा वे स्वयं इन सबके मूल कारण हैं --

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।।
मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय। ७/६-७

--'हे अर्जुन, तू ऐसा समझ कि सम्पूर्ण भूत इन दोनों

प्रकृतियों से उत्पन्न हुए हैं और मैं समूचे जगत् का उत्पत्ति और प्रलयरूप हूँ। मुझसे भिन्न किंचिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है।'

श्रीकृष्ण ने 'मयि' कहकर उस अनलख और दूर के भगवान् को दीखनेवाला और अत्यन्त समीप का बना दिया, वेदान्त के उस नेति-नेतिवाच्य ब्रह्म को भक्त की पकड़ में आनेवाला बना दिया।

अर्जुन के मन में सम्भवतः यह विचार उठा होगा कि यदि श्रीकृष्ण के आदेश का पालन न किया जाय, तो क्या होगा ? उसे अपने भीतर कर्म-त्याग की भावना इतनी प्रबल लग रही थी कि वह किसी प्रकार अपने को युद्ध करने के लिए तैयार नहीं कर पा रहा था। इस-लिए बार बार उसके मन में उठ रहा था कि यदि किसी प्रकार युद्ध से छुट्टी मिल जाती, तो उत्तम होता। हम भी इसी प्रकार जीवन के आघातों से घबड़ाकर कर्तव्य-कर्मों की उपेक्षा करने लगते हैं। हमारे मन में एक मिथ्या भाव पैदा हो जाता है कि हमें कर्मत्याग का अधिकार है। भगवान् कृष्ण अर्जुन की और हमारी भावना का उत्तर आगे के दो श्लोकों में देते हैं। उनका उत्तर बड़ा मनोवैज्ञानिक है। वे सीधे यों नहीं कहते कि अर्जुन, यदि तू मेरी बात नहीं मानेगा, तो नष्ट हो जायगा। ऐसी बात वे अर्जुन से कहते अवश्य हैं, पर वह अन्त अन्त में--'अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङक्ष्यसि' (१८।५८)—'यदि अहंकार के कारण तू मेरे वचनों को

नहीं सुनेगा, तो नष्ट हो जाएगा।' पर यहाँ पर वे अप्रत्यक्ष रूप से अपनी बात रखते हैं। प्रारम्भ में वे इतना कठोर नहीं हो पाते। ३१वें श्लोक में उनकी बात कहते हैं, जो उनका आदेश मानकर चलते हैं और ३२वें श्लोक में उनकी, जो उनके आदेश की अवहेलना करते हैं।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

श्रद्धावन्तः (श्रद्धावान् हो) अनसूयन्तः (दोषदृष्टि न रख) ये (जो) मानवाः (मनुष्य) मे (मेरे) इदं (इस) मतं (मत का) नित्यम् (नित्य) अनुतिष्ठन्ति (अनुष्ठान करते हैं) ते (वे) अपि (भी) कर्मभिः (कर्मों से) मुच्यन्ति (छूट जाते हैं)।

'जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक, दोषदृष्टि न रखते हुए, मेरे इस मत के अनुसार नित्य बर्तते हैं, वे भी कर्मों से छूट जाते हैं।"

तु (परन्तु) ये (जो) एतत् (इस) मे (मेरे) मतम् (मत के प्रति) अभ्यसूयन्तः (दोष निकालते हुए) न (नहीं) अनुतिष्ठन्ति (बर्तते) तान् (उन्हें) सर्वज्ञानविमूढान् (सब प्रकार के ज्ञान में मोहित) अचेतसः (अविवेकी) नष्टान् (विनष्ट) विद्धि (जान।

"परन्तु जो मेरे इस मत में दोष निकालते हुए उसके अनुसार नहीं बर्तते, उन लोगों को तू सब प्रकार के ज्ञान में मोहित, अविवेकी और कल्याण के पथ से भ्रष्ट हुआ ही जान।"

३०वें श्लोक में यह बताया था कि कर्म कब लोक-संग्रहार्थ बनता है। ऐसा कर्म तो कर्म को काटनेवाला होता ही है, पर जो लोग इतनी ऊँची स्थिति तक अभी नहीं

पहुँचे कि अपने सारे कर्मों को परमात्मा में समर्पित कर, चित्त को आत्मा में केन्द्रित कर, आशा, ममता और मानसिक ज्वर को त्यागकर कर्म कर सकें, वे लोग भगवान् के इस मत के प्रति श्रद्धा और अनसूया का भाव रखते हुए चेष्टा करने से भी सब कर्मों से छूट जाते हैं। ३१वें श्लोक के उत्तरार्ध में जो 'अपि' (भी) शब्द आया है, उसका यही तात्पर्य है। एक तो वह स्थिति है, जहाँ भगवान् के आदेश के प्रति समर्पित हो उसके अनुसार मनुष्य कर्म करता है और दूसरी वह स्थिति है, जहाँ अभी वह पूरी तरह से समर्पित नहीं हुआ है, पर उनके आदेश के प्रति श्रद्धा रखता है, उसमें कोई मीन-मेख नहीं निकालता तथा नित्य उसके अनुसार चलने की चेष्टा करता है। पहली स्थितिवाला व्यक्ति तो कर्मों के बन्धन से छूटेग ही, पर दूसरी स्थितिवाला व्यक्ति भी कर्मबन्धन से छूट जायगा, यह 'अपि' शब्द का अर्थ है।

'असूया' अन्तःकरण की वह वृत्ति है, जो गुण में भी दोष खोजती है। इस प्रकार की वृत्तिवाले व्यक्ति कभी शान्ति प्राप्त नहीं करते और फलस्वरूप वे सुखी भी नहीं हो पाते --'अशान्तस्य कुतः सुखम्'? श्री माँ सारदा देवी का अन्तिम उपदेश बड़ा प्रसिद्ध है, जो उन्होंने एक महिला-भक्त के प्रति दिया था। उन्होने कहा था--"यदि जीवन में शान्ति चाहती हो, बेटी, तो किसी के दोष मत देखना। दोष देखना अपना।" दोष-दृष्टि रखनेवाले व्यक्ति अमृत में भी विष की खोज करते

रहते हैं। इसीलिए यहाँ पर श्रद्धावृत्ति के साथ भगवान् ने अनसूया-वृत्ति की संगत रखी। असूया-वृत्ति हमारी सारी अच्छाइयों पर पानी फेर देती है।

इसके बाद ३२वें श्लोक में श्रीकृष्ण बताते हैं कि जो मेरे मत में दोष देखते हैं और इसलिए उसके अनुसार वर्तन नहीं करते, वे सभी ज्ञानों में भ्रान्त हैं, अविवेकी हैं और फलस्वरूप वे विनाश को प्राप्त होते हैं, कल्याण के पथ से भ्रष्ट हो जाते हैं। इसमें निहितार्थ यही है कि अर्जुन, यदि तू भी इस प्रकार करेगा, मेरी बातों को उड़ा देगा, तो वह तेरे लिए सर्वनाश का कारण बनेगा।

प्रश्न उठ सकता है कि क्या श्रीकृष्ण चापलूसी पसन्द करते हैं, जो बार बार अपने वचनों के प्रति श्रद्धा-भाव की माँग करते हैं और असूया-वृत्ति की निन्दा करते हैं? क्या वे अपने को और फलस्वरूप अपने मत को infallible (अमोघ) बताना चाहते हैं? यदि कोई व्यक्ति बार बार अपने मत की निर्दोषता का डंका पीटता रहे, तो खटकना स्वाभाविक है। इन प्रश्नों के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि भगवान् कृष्ण चापलूसी पसन्द नहीं करते। वे अर्जुन के निकट अपने ईश्वरीय स्वरूप को इसलिए प्रकट करते हैं कि अर्जुन उनका भक्त है। अतः अपने सम्बन्ध में उन्होंने ये जो आत्मस्तुति-जैसे दीखने-वाले वचन कहे हैं, वे वास्तव में भक्तों के निकट उनके स्वरूप को उद्घाटित करनेवाले शब्द हैं। श्रीकृष्ण अपने भक्त के मन में यह दृढ़ धारणा करा देना चाहते हैं कि

मैं ही जगत् का नियामक ईश्वर हूँ तथा मैंने यह जो मत प्रदर्शित किया है, वह ईश्वरीय नियम है। अब यह तो सहजबोध्य तथ्य है कि जो ईश्वर के नियमों में दोष देखता है और उन नियमों के अनुसार वर्तन नहीं करता, वह सभी ज्ञानों में विमूढ़ है, अविवेकी है। अविवेकी ही हठपूर्वक ईश्वरीय नियमों के उल्लघन की चेष्टा करता है और उस प्रक्रिया में नष्ट हो जाता है। ऐसा व्यक्ति भले ही अपने को बहुत बड़ा ज्ञानी समझे, पर उसका सारा ज्ञान भ्रान्ति का ही तो पर्याय है। ईश्वरीय सत्ता किसी भी यथार्थ ज्ञानी के लिए ईर्ष्या, द्वेष या असूया का विषय नहीं हो सकती। शिशुपाल आदि ने कृष्ण से ईर्ष्या की, उनमें दोष देखा, कंस ने उनसे द्वेष किया। फलस्वरूप उन लोगों का सारा ज्ञान उनकी भ्रान्ति का ही पोषक बना और वे अपने अविवेक के कारण मारे गये। इसीलिए भगवान् ने अर्जुन को और अर्जुन के माध्यम से हम सब साधकों को चेतावनी देना उचित समझा, जिससे ईश्वरीय नियमों के प्रति अश्रद्धा हमारे भी अकल्याण का हेतु न बने।

जब भगवान् ने अर्जुन को स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार समझा दिया, तब अर्जुन के मन में प्रश्न उठा कि जब लोगों को विदित है कि ईश्वरीय नियमों का अनुवर्तन नहीं करने से हम नाश को प्राप्त होंगे, फिर भी वे ऐसे नियमों के विपरीत आचरण क्यों करते हैं? अर्जुन को आत्मविश्लेषण करने से दिखा कि उसके स्वयं के

अन्दर भगवान् के वचनों के प्रति अवहेलना करने की प्रवृत्ति विद्यमान है। यद्यपि उसने भगवान् श्रीकृष्ण को एक परम आत्मीय और अत्यन्त स्नेही सखा के रूप में प्राप्त किया है, तथापि उसने लक्ष्य किया कि उसके भीतर एक ऐसी भी वृत्ति काम कर रही है, जो श्रीकृष्ण के वचनों के प्रति पूरी तरह से आस्था नहीं जमने देती, बल्कि रही-सही आस्था को भी काटने की चेष्टा करती रहती है। उसकी मनोवृत्ति को अन्तर्यामी भगवान् भाँप लेते हैं और उसके अनकहे प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

ज्ञानवान् (ज्ञानी) अपि (भी) स्वस्याः (अपने निज के) प्रकृतेः (स्वभाव के) सदृशं (अनुरूप) चेष्टते (चेष्टा करता है) भूतानि (सभी प्राणी) प्रकृतिं (स्वभाव को) यान्ति (प्राप्त होते हैं) निग्रह (निग्रह) किं (क्या) करिष्यति (करेगा)।

"ज्ञानी भी अपने निज के स्वभाव के अनुरूप चेष्टा करता है। सभी प्राणी स्वभाव का ही अनुवर्तन करते हैं। इसमें निग्रह भला क्या करेगा?"

यहाँ भगवान् के कथन में एक विरोधाभास लगता है। एक ओर वे कहते हैं कि व्यक्ति अपने स्वभाव के द्वारा परिचालित होता है, निग्रह या संयम उसके लिए अर्थहीन हो जाता है और दूसरी ओर अगले ही श्लोक में वे कहते हैं कि राग-द्वेष के वश में नहीं आना चाहिए। अर्जुन ने पूछा था कि मनुष्य ईश्वर के बताये मार्ग पर

क्यों नहीं चलता, जब वह जानता है कि उस पर नहीं चलने से वह नाश को प्राप्त होगा ? श्रीकृष्ण उत्तर देते हैं कि मनुष्य अपने स्वभाव से परिचालित होता है। ज्ञानी भी अपने स्वभाव का उल्लंघन नहीं कर पाता। कोई अपने को बलपूर्वक किसी काम के करने से रोकना चाहे, तो नहीं कर पाता, क्योंकि स्वभाव आड़े आता है। तो, प्रश्न उठता है कि मनुष्य का स्वभाव जब इतना बली है कि निग्रह का कोई फल नहीं होता, तब निग्रह किया ही क्यों जाय ? मनुष्य जब इतना स्वभाव-परतंत्र है, तब साधना और पुरुषार्थ भला क्या अर्थ रखते हैं ? यह तो दुर्योधन की-सी स्थिति हुई। जब किसी ने उससे पूछा कि क्या धर्म और अधर्म का भेद नहीं जानते ? उसने कहा—जानता हूँ। "तब फिर तुम अधर्म में क्यों डूबे रहते हो ?" उत्तर में दुर्योधन बोला—

> जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः
> जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
> केनापि देवेन हृदिस्थितेन
> यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥

—'धर्म क्या है यह जानता तो हूँ, पर मेरी प्रवृत्ति उधर नहीं होती। अधर्म क्या है वह भी मैं समझता हूँ, पर उससे मैं अपने को अलग नहीं कर पाता हूँ। कोई देव मेरे हृदय में बैठा हुआ है। वह मुझे जैसा चलाता है, वैसा मैं चलता हूँ।' दुर्योधन-जैसा व्यक्ति भी अपनी दुर्बलता के लिए अपने हृदय में बैठे किसी देवता की

दुहाई देता है।

अतः प्रस्तुत श्लोक के अर्थ को हमें एक विशेष दृष्टि से समझना होगा। वास्तव में यहाँ पर भगवान् के द्वारा निग्रह या संयम की अनुपयोगिता अभिप्रेत नहीं है, यहाँ पर वे मात्र स्वभाव की बलवत्ता प्रदर्शित करना चाहते हैं। यह साहित्य की एक शैली है कि किसी गुण को बढ़ाकर प्रदर्शित करने के लिए दूसरे को थोड़ी देर के लिए छोटा कर देते हैं। मनुष्य अपने स्वभाव से इतना बँधा होता है कि किसी प्रकार छूट नहीं पाता। अधिकांश व्यक्ति अपनी प्रकृति के, अपने स्वभाव के इतने गुलाम होते हैं कि वे उसका अतिक्रमण नहीं कर पाते। भले ही व्यक्ति ज्ञानी हो, स्वभाव के दोष को जानता हो, तथापि जब स्वभाव को बदलने की बात आती है, तो अपने को असमर्थ पाता है। रावण ने जान तो लिया था कि श्री राम साक्षात् भगवान् के अवतार हैं, वह कहता भी है--

खर दूषन मोहि सम बलवंता।
तिन्हहि को मारइ बिनु भगवंता ॥

--खर-दूषण मेरे समान ही बलवान् थे, उन्हें भगवान् के सिवा भला और कौन मार सकता है? रावण का ज्ञान बता तो देता है कि ईश्वर का अवतार हो गया है, पर जब उसके मन में बात उठती है कि चलो, तब अवतार के पास जाएँ और उसकी उपासना करें, तो स्वभाव आड़े आ जाता है, बुद्धि तर्क देती है--'होइहि

भजनु न तामस देहा'--मेरी देह तो तामसी है, इसमें भजन नहीं होगा, और ऐसा तर्क खोजकर वह ईश्वर के पास अपने को जाने से रोक लेता है।

यह ज्ञानी की स्वभाव-परवशता का एक उदाहरण है। भीष्मपितामह और द्रोणाचार्य दुर्योधन को अधर्म का पक्षधर जानकर भी उसी का पक्ष लेकर युद्ध करते हैं और धर्म की दोहाई देते हैं--यह ज्ञानी की स्वभाव-परवशता का दूसरा उदाहरण है।

तो, भले ही सामान्य जनों के लिए और अधिकांश ज्ञानियों के लिए भी अपने स्वभाव से ऊपर उठना अशक्य हो, पर क्या निग्रह की अप्रयोजनीयता सबके लिए है? भगवान् कहते हैं--नहीं, निग्रह की प्रयोजनीयता है, साधना और पुरुषार्थ की नितान्त प्रयोजनीयता है। 'निग्रह क्या करेगा' कहकर भगवान् ने साधना के लिए हमें हतोत्साहित नहीं किया, उन्होंने मात्र प्रकृति या स्वभाव की बलवत्ता प्रदर्शित की। पर जो व्यक्ति दृढ़प्रतिज्ञ हैं और स्वभाव के बली होने पर भी उस पर हावी होने का संकल्प करते हैं, उनके लिए निग्रह फलप्रसू होता है। इसीलिए भगवान् अगले ही श्लोक में अर्जुन को राग और द्वेष पर विजय पाने के लिए प्रवृत्त करते हैं। वे कहते हैं--

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ।।३४।।

इन्द्रियस्य (इन्द्रिय का) इन्द्रियस्य अर्थे (इन्द्रिय के विषयों

में) रागद्वेषो (राग और द्वेष) व्यवस्थितौ (प्रकृति द्वारा रखे गये हैं) तयो: (उनके) वशं (वश में) न (नहीं) आगच्छेत् (आना चाहिए) तौ (वे दोनों) हि (सचमुच) अस्य (इसके) परिपन्थिनौ (शत्रु हैं)।

"इन्द्रियों का अपने अपने विषयों के प्रति राग और द्वेष स्वाभाविक हैं; किसी को इस राग और द्वेष के वश में नहीं आना चाहिए; क्योंकि ये दोनों उसके (कल्याण-मार्ग में विघ्न डालने वाले) शत्रु हैं।"

श्लोक के पूर्वार्ध में भगवान् ने इन्द्रिय-विषयों प्रति इन्द्रियों के राग-द्वेष की स्वाभाविकता बतलायी। आँखों का विषय है रूप। अच्छे रूप के प्रति आँखों की आसक्ति होती है और भद्दे रूप को वे देखना नहीं चाहतीं, यह द्वेष है। कान का विषय है शब्द। मधुर और प्रिय शब्द कान के राग का कारण होता है, कर्कश और अप्रिय शब्द से कान को द्वेष है। इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय के साथ समझना चाहिए। ये राग और द्वेष इन्द्रिय-विषयों में 'व्यवस्थित' हैं-- मानो प्रकृति ने ही इनकी व्यवस्था कर दी है। पर ऐसा मानकर कि ये इन्द्रियों के लिए स्वाभाविक हैं, क्या हम भी उनके वश में होकर चलें ? भगवान् कहते हैं---नहीं, ये कल्याण के मार्ग में विघ्न पैदा करते हैं, ये शत्रु हैं, हमें सही रास्ते से भटका देते हैं, अत: इनका प्रतिकार करना चाहिए। इनके वश में होकर चलने से हमारे स्वभाव में ऐसी दुर्बलता आ जाती है कि फिर निग्रह और संयम किसी काम का नहीं होता। अतः इन्द्रिय-

विषयों के प्रति राग और द्वेष से बचने के लिए हमें प्रारम्भ से ही निग्रह की सहायता लेनी चाहिए। ऐसा सोचकर चुप नहीं बैठना चाहिए कि विषयों में इन्द्रियों का राग-द्वेप तो स्वाभाविक है, अतः ऐसी स्वाभाविक बात को क्यों काटा जाए ?

भगवान् के ऐसा कहने का एक विशेष तात्पर्य था। अर्जुन के मन में भिक्षावृत्ति के लिए जो खिचाव पैदा हुआ था, वह पूरी तरह से गया नहीं था। यद्यपि भगवान् ने अर्जुन को तरह तरह से युद्ध करने का औचित्य समझाया, पर उसके अन्तर्मन में कहीं पर पलायन की वृत्ति बनी हुई थी। और जब उसने भगवान् के मुख से यह सुना कि इन्द्रिय-विषयों के प्रति इन्द्रियों के जो राग और द्वेष हैं, वे कल्याण के मार्ग पर विघ्न डालनेवाले शत्रु हैं, उनके वश में नहीं आना चाहिए, तो अर्जुन के मन में छिपा हुआ भिक्षावृत्ति के प्रति खिचाव प्रबल हो उठा। वह सोचने लगा—युद्ध करने से तो राग और द्वेष पुष्ट ही होंगे, यदि भिक्षावृत्ति अपनाता हूँ तो राग और द्वेप के बन्धन को अधिक सहजतापूर्वक तोड़ सकूँगा; युद्ध तो राग-द्वेष को जीतने का कोई व्यावहारिक उपाय दीखता नहीं। भगवान् यह भाँप लेते हैं और उसे सावधान करते हुए कहते हैं—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

स्वनुष्ठितात् (अच्छी तरह से अनुष्ठित) परधर्मात् (दूसरे

के धर्म से) विगुणः (गुणरहित) स्वधर्मः (अपना धर्म) श्रेयान् (श्रेयस्कर है) स्वधर्मे (अपने धर्म में) निधनं (मृत्यु) श्रेयः (बेहतर है) परधर्मः (दूसरे का धर्म) भयावहः (भय का देनेवाला है)।

"अच्छी तरह से अनुष्ठित दूसरे के धर्म की अपेक्षा अपना गुणरहित धर्म कहीं अधिक श्रेयस्कर है। स्वधर्म में रहकर मृत्यु को प्राप्त हो जाना अधिक कल्याणकारक है। परधर्म भय का देनेवाला है।"

अर्जुन को लगता था कि युद्ध की अपेक्षा भिक्षा-वृत्ति उसको अधिक शान्ति देगी। पर भगवान् कृष्ण स्पष्ट शब्दों में परधर्म के प्रति खिचाव की निन्दा करते हैं। अभी अर्जुन को ऐसा लगता है कि वन का जीवन उसके लिए कहीं अधिक कल्याणकारी रहेगा, पर भगवान् बताते हैं कि वास्तव में वन का जीवन अर्जुन को भय देनेवाला ही बनेगा, यह अभी अर्जुन देखने में समर्थ नहीं है। उसकी बुद्धि मोह से ढकी है, इसीलिए उसकी समझ काम नहीं दे रही है। उसे युद्धरूप अपना धर्म भय देने-वाला और भिक्षावृत्तिरूप परधर्म सुहावना मालूम पड़ता है, उसमें उसे कोई भय या जोखिम नहीं दिखायी देता। पर भगवान् तो दूरदर्शी हैं। वे जानते हैं कि जब अर्जुन की मोहरूपी खुमारी उतरेगी, जब उसका अभी का दबा हुआ क्षत्रियत्व फिर से जागेगा, तब यदि वह अपने को भिक्षावृत्तिरूप धर्म में स्थित पाएगा, तो आत्मग्लानि के कारण आत्महत्या ही कर बैठेगा। इसीलिए वे स्वधर्म में स्थित रहकर मृत्यु का वरण श्रेयस्कर समझते हैं,

क्योंकि उसमें सहजता बनी रहती है। परधर्म ऊपर से भले ही ऐसा लगे कि स्वधर्म की अपेक्षा वह अधिक अच्छी तरह से अनुष्ठित हो सकता है, पर उसकी ओर मन को नहीं देना चाहिए। वह एक प्रलोभन है, जो हमारे चित्त को डाँवाँडोल बना देता है और स्वधर्म से विच्युत करने की चेष्टा करता है। परधर्म का स्वीकरण हमें स्वधर्म से तो डिगा ही देगा, परधर्म में भी हमें स्थित नहीं होने देगा। यह जीवन का एक बड़ा मनोवैज्ञानिक सत्य है।

स्वधर्म और परधर्म की विस्तृत व्याख्या हम अपने गीता-प्रवचन क्रमांक २८ एवं २९ में कर ही चुके हैं। अतः यहाँ पर उसकी पुनरावृत्ति अभीष्ट नहीं।

श्रीरामकृष्ण के प्रिय भजन (२)

स्वामी वागीश्वरानन्द

(रामकृष्ण मठ, नागपुर)

(प्रस्तुत लेखमाला में श्रीरामकृष्ण देव के गाये हुए भक्तिगीतों के मूल शब्द, संक्षिप्त विवरण एवं हिन्दी पद्यानुवाद देने का विचार किया गया है। अनुवाद को यथासम्भव मूल के अत्यन्त निकट रखने का प्रयत्न किया गया है, साथ ही उसे गेय बनाने की ओर विशेष ध्यान दिया गया है।)

(५)

('श्रीरामकृष्णवचनामृत', रविवार, १५ अप्रैल १८८३)

स्थान—कलकत्ता, सुरेन्द्र के मकान पर

रचयिता—अज्ञात

(राग-भीमपलासी: ताल-बँगला एकताल)

गो आनन्दमयी होये आमाय निरानन्द करो ना।
ओ दुटि चरण बिने आमार मन अन्य किछु आर जाने ना।
तपन-तनय आमाय मन्द कय, कि दोषे ता तो जानि ना॥
भवानी बोलिये भवे जावो चले, मने छिलो एइ बासना।
अकूल पाथारे डुबाबि आमारे, स्वपनेओ ता तो जानि ना॥
अहर्निशि श्री दुर्गा नामे भासि, तबु दुःखराशि गेलो ना।
एबार जदि मरि, ओ हरसुन्दरी, (तोर) दुर्गानाम केउ लबे ना॥

(भावानुवाद)

(राग-भीम पलासी: ताल-तीन ताल)

हो आनन्दमयी तू मुझको निरानन्द क्यों बना रही?
तेरे चरनन बिन मेरा मन, कुछ भी तो जानता नहीं।
फिर किस कारन डरा रहा यम, कसूर मेरा बता सही॥
'भवानि' कह भव तर जाऊँगा थी मन में कामना यही।
मुझे डुबा देगी दरिया में यह सोचा था कभी नहीं॥
'दुर्गा दुर्गा' कह निसदिन माँ, तैर रहा, विपदा न गयी।
यदि मैं डूब मरूँ तो कोई लेगा तेरा नाम नहीं॥

(६)

('श्रीरामकृष्णवचनामृत', रविवार, ५ अगस्त १८८२)

स्थान—कलकत्ता, विद्यासागर का मकान

रचयिता—रामप्रसाद

(राग-रामप्रसादी धुन, मिश्र झिंझोटी: ताल-बँगला एक ताल)

के जाने रे काली केमन।
षड्दर्शने ना पाय दर्शन॥

मूलाधारे सहस्रारे सदा जोगी करे मनन ।
काली पद्मवने हंससने हंसी रूपे करे रमण ।।
आत्मारामेर आत्मा काली प्रमाण प्रणवेर मतन ।
तिनि घटे घटे विराज करेन इच्छामयीर इच्छा जेमन ।।
मायेर उदरे ब्रह्माण्ड-भाण्ड प्रकाण्ड ता जानो केमन ।
महाकाल जेनेछेन कालीर मर्म अन्य के बा जाने तेमन ।।
प्रसाद भाषे लोके हासे सन्तरणे सिन्धु तरण ।
आमार मन बुझेछे प्राण बोझे ना, धरबे शशी होये बामन ।।

(भावानुवाद)

(राग–मिश्र झिंझोटी : ताल–तीन ताल)

कौन कहे काली कैसी, मन ।
षड्दर्शन ना पावें दर्शन ।।
मूलाधार व सहस्रार में सदा करें योगीजन चिन्तन ।
पंकजवन में आत्महंस-सह केलि करे काली हंसी बन ।।
आत्मारामों की वह आत्मा प्रणव सदृश यह प्रामाण्य वचन ।
इच्छामयी निजेच्छा से वह घट घट में है राजमान, मन ।।
यह प्रकाण्ड ब्रह्माण्ड उदर में कैसे करती है वह धारण ?
महाकाल यह मर्म जानता, वैसा जाने और कौन जन ?
'चला तैरकर सिन्धु लाँघने' हँसे लोग सुनके यह वर्णन ।
मन समझे पर प्राण न माने, शशि को गहना चाहे वामन ।।

(७)

('श्रीरामकृष्णवचनामृत', सोमवार, १६ अक्तूबर १८८२)

स्थान–दक्षिणेश्वर

रचयिता–रामप्रसाद

(राग–रामप्रसादी, धुन–मिश्र झिंझोटी : ताल–बंगला एकताल)

डुब दे रे मन काली बोले ।
हृदि-रत्नाकरेर अगाध जले ।।
रत्नाकर नय शून्य कखन, दु-चार डुबे धन न मेले ।
तुमि दम सामर्थ्ये एक डुबे जाओ, कुलकुण्डलिनीर कूले ।।
ज्ञान-समुद्रेर माझे रे मन, शान्तिरूपा मुक्ता फले ।
तुमि भक्ति करे कुड़ाये पाबे, शिव-युक्ति मत चाइले ।।
कामादि छय कुमीर आछे, आहार- लोभे सदाइ चले ।
तुमि विवेक-हल्दि गाये मेखे जाओ, छोंबे ना तार गन्ध पेले ।।
रत्न-माणिक्य कतो, पड़े आछे सेइ जले ।
'रामप्रसाद' बोले झम्प दिले, मिलबे रतन पले पले ।।

(भावानुवाद)

(राग–झिंझोटी : ताल–तीन ताल)

डूब मना 'काली' कहके रे।
गहन हृदय-रत्नाकर में रे ।।
रत्नाकर वह रिक्त कभी ना,
किन्तु सतह पर धन न मिले रे ।
शम-दम-सह तुम इक डुबकी में
पहुँचो कुण्डलिनी-तट पे रे ।।
ज्ञान-समुद्र बीच है, मनवा,
शान्तिरूप मोती फलते रे ।
सुन शिव-युक्ति भक्ति के बल पर,
तू चाहे जितने चुन ले रे ।।
कामादिक छह् ग्राह फिरे हैं सदा भक्ष्य की तलाश में रे ।
विवेक-हल्दी अंग लगा जा, गन्ध सूँघ वें न छुएंगे रे ।।

मणि-मणिक्य-रत्न कितने ही उस जल में हैं भरे पड़े रे।
कहता 'रामप्रसाद' कूद तू, रत्न मिलेंगे पल पल में रे॥

(८)

('श्रीरामकृष्णवचनामृत', शनिवार, २८ अक्तूबर १८८२)
स्थान—सिंथि ब्राह्मसमाज

रचियता—कुबीर

(राग बाउलों की पीलू धुन-जैसी: ताल—खेमटा)

डुब डुब डुब रूपसागरे आमार मन।
तलातल पाताल खुँजले पाबि रे प्रेम-रत्नधन॥
खोंज खोंज खोंज खुँजले पाबि हृदय माझे वृन्दावन।
दीप दीप दीप ज्ञानेर बाति जलबे हृदे अनुक्षण॥
डँग डँग डँग डाँगाय डिंगे चालाय आबार से कोन जन।
'कुबीर' बोले शोन शोन शोन भाबो गुरुर श्रीचरण॥

(भावानुवाद)

(राग—मिश्र पीलू: ताल—कहरवा)

डूब डूब अब रूप-समुन्दर में मन रे।
पैठ पैठ गहरे जल में तू पावेगा प्रेम-रतन रे॥
खोज खोज तू अपने हिय में राजमान वृन्दावन रे।
जगमग जगमग जले निरन्तर ज्ञानदीप अति पावन रे॥
धरती पर भी नाव चलावे, कहो कौन प्रेमी जन रे।
सुन सुन वे हैं सद्गुरु मनवा, भज ले पद भव भंजन रे॥

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.
(दो / ४८, डाक-तार नगर, भोपाल)

(१) वाद-विवाद विषाद बढ़ायो

एक बार गौतम बुद्ध कौशाम्बी में विहार कर रहे थे कि एक भिक्षु ने आकर उनसे कहा, "भगवन्! यहाँ के भिक्षु बहुधा आपस में विवाद करते रहते हैं और अपनी मुखरूपी बर्छी से एक-दूसरे को बींधते रहते हैं। अच्छा होता, आप उन्हें उचित शिक्षा देकर व्यर्थ के वाद-विवाद से परावृत्त करते।"

बुद्धदेव चुपचाप सुनकर उसके साथ मठ में गये। उस समय भी कुछ भिक्षु आपस में विवाद कर रहे थे। उन्हें सम्बोधित करते हुए वे बोले, "भिक्षुओ, तुम्हें परस्पर विवाद और कलह से बचना चाहिए, इसी में तुम्हारी भलाई है।" इस पर एक भिक्षु बोला, "भन्ते! आप हमारे कलह के बीच में न पड़े। हम आपस में निपटने में समर्थ हैं।"

तब तथागत बोले, "आपस में निपटने से बैरभाव शान्त नहीं होता, बल्कि बढ़ता है। बैरभाव रहने से वाणी कठोर हो जाती है और जो कठोर वाणी का प्रयोग करते हैं, वे स्वयं को पण्डित समझते हैं। इस प्रकार का आचरण करनेवालों को न तो स्वयं की चिन्ता होती है और न संघ-भेद की। हम यदि अपने चारों ओर देखें तो हमें दिखायी देगा कि पशुओं को चुरानेवाले, नीच कर्म करनेवाले

और दूसरों के प्राण हरण करनेवाले तक आपस में मिल-जुलकर रहते हैं, और यहाँ सघ में रहनेवाले तुम लोग एक क्षण भी शान्ति से नहीं रह सकते। तुम्हें विनम्र, सदाचारी और धैर्यशाली लोगों की संगति का लाभ उठाना चाहिए और यदि तुम ऐसा नहीं करना चाहते, तो तुम्हारा संघ में रहने से क्या लाभ ? क्या तुम नहीं जानते कि तुम्हारे वाद-विवाद से दूसरों की शान्ति में बाधा पहुँचती है? इसलिए उनके लिए तुम-जैसे मूर्खों की संगति की अपेक्षा अकेले ही विचरण करने में बुद्धिमानी है।"

(२) शिक्षा ताको दीजिए, जाको सीख सोहाय

एक बार गुरु गोविन्दसिंह के पास एक सीधा-सादा जाट आया और उसने उनसे नौकरी देने की विनती की। उन्होंने उसे घोड़ों की सेवा करने के लिए कहा। जब उन्होंने उसका नाम पूछा, तो उसने 'बेला' बताया। गुरु गोविन्दसिंह ने आगे पूछा, "क्या कुछ लिखना-पढ़ना आता है ?" "जी नहीं", उसने जवाब दिया। तब वे बोले, "अच्छा ! हम तुम्हें पढ़ाएँगे। आज से तुम इस वाक्य को रोज कहा करो—'वाह भाई बेला, न पहचाने वक्त, न पहचाने बेला'।"

वह बेचारा इसे ही गुरु का मंत्र जान, रोज उसका जाप करने लगा। जब दूसरे शिष्यों ने उसे इस वाक्य की रट लगाते देखा, तो उन्होंने गुरुदेव से पूछा, "आपने बेला को यह कैसा वाक्य रटने के लिए दिया है ?" गुरु-

देव ने जवाब दिया, "जिसने बेला यानी वक्त को नहीं पहचाना, उसने इस संसार में कुछ नहीं जाना। मगर जो बेला के महत्त्व को समझ पाएगा, वह निश्चय ही पार हो जाएगा।" बेला ने जब इसे सुना तो वह उस वाक्य को ज्यादा से ज्यादा दुहराने लगा। गुरुदेव उसकी निष्ठा से बहुत प्रसन्न हुए और वे उसे नित्य एकान्त में उपदेश देने लगे।

अन्य शिष्यों ने जब यह देखा, तो उन्हें बेला से ईर्ष्या हुई। आखिर उनमें से एक ने एक दिन गोविन्दसिंहजी से प्रश्न किया, "गुरुदेव, क्षमा करें, हम लोग आपकी निःस्वार्थ-भाव से सेवा करते हैं, लेकिन आप केवल इस निरक्षर बेला को ही उपदेश देते हैं।" गोविन्दसिंह ने उसके प्रश्न का जबाव न दे उससे कहा, "एक घड़ा भर भंग पीसो और घड़ा खत्म होते तक सब लोग उसका कुल्ला करो।"

घड़ा खत्म हो जाने पर उन्होंने हरएक से पूछा, "नशा चढ़ा या नहीं ?" सबने उत्तर दिया, "नहीं।" जब उन्होंने बेला को बुलाया, तो सबने देखा कि उसे नशा चढ़ा है और नशे में भी वह 'वाह भाई बेला . . .' की रट लगाये हुए है। तब गुरुदेव उस शिष्य से बोले, "क्या तुम्हारे प्रश्न का जवाब मिल गया ? बेला को भंग के साथ साथ नाम का भी नशा चढ़ा है, क्योंकि उसने इन दोनों को दिल से ग्रहण किया है, जबकि तुम लोग कोई भी काम ऊपर ही ऊपर करते हो, दिल से नहीं।

जान लो कि जब तक भगवान् के प्रति दिल से प्रेम न हो, तब तक मुक्ति नहीं मिल सकती।"

(३) विद्याधनं सर्वधनं प्रधानम्

सन्त गाडगे महाराज का मुकाम बम्बई में था। एक दिन वे मन्दिर जा रहे थे कि उन्हें एक गरीब बूढ़ा दिखायी दिया, जो एक मकान-मालिक से कह रहा था, "जरा इस चिट्ठी को पढ़कर सुना दें, बड़ी मेहरबानी होगी।" उस व्यक्ति ने चिट्ठी रख ली और उसे एक कुल्हाड़ी देकर कहा, "पहले मेरी लकड़ियाँ फोड़ दे, फिर मैं उसके बदले चिट्ठी पढ़कर सुनाऊँगा।" इस पर बूढ़ा बोला, "मुझमें लकड़ियाँ फोड़ने की ताकत नहीं रही। आप मेरी चिट्ठी वापस कर दें। मैं इसे दूसरे से पढ़वाऊँगा।" उस व्यक्ति को गुस्सा आ गया और वह उस बूढ़े को गालियाँ देने लगा।

गाडगे महाराज वहाँ आये और उन्होंने कुल्हाड़ी लेकर सारी लकड़ियाँ फोड़ दीं और उन्होंने लकड़ियों को ठीक तरह से जमा भी दिया। फिर मकान-मालिक से बोले, "अब तो इसकी चिट्ठी वापस करोगे न!" फिर उस चिट्ठी को लेकर एक राहगीर के पास गये और जब उसने मजमून पढ़कर सुनाया, तो वे बूढ़े से बोले, "हम दोनों निरे गधे ही हैं। न तुझे पढ़ना-लिखना आता है, न मुझे और मजे की बात यह है कि हमारे पास पैसा भी नहीं है। हम लोग अगर चार अक्षर भी पढ़े होते, तो ऐसी गति काहे होती? सचमुच बिना शिक्षा का आदमी

पत्थर होता है, पत्थर !"

(४) परहित सरिस धर्म नहिं भाई

ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती पहले दिल्ली में रहते थे, बाद में वे अजमेर में आकर बस गये। एक बार उनके पास एक गरीब किसान आया और उसने उनसे विनती की कि वे उसे जमीन का इस्तनरारी (अधिकारपत्र) दिलाने में उसकी मदद करें।

ख्वाजा उसे लेकर दिल्ली गये। बात जब उनके पुत्र फखरुद्दीन को मालूम हुई, तो उसने उनसे कहा, "आप इतने से छोटे काम के लिए यहाँ आये हैं। यह काम तो आपका कोई भी खादिम कर सकता था। आपको इतनी तकलीफ उठाने की जरूरत नहीं थी।"

तब ख्वाजा ने उससे कहा, "बेटे ! हमें अपने को हमेशा दूसरों की भलाई के लिए खपाना चाहिए। यह किसान बड़ा दुःखी था। जब उसने मुझसे इस्तनरारी दिलाने की प्रार्थना की, तब मैंने नबी के दरबार में उसके लिए मिन्नत की और मुझे उधर से जवाब मिला--'रंजो-ग़म में शरीक होना ही बंदगी है।' और मैं उसे लेकर यहाँ चला आया।"

उनके इन शब्दों से फखरुद्दीन लज्जित हो गया। उसने सुल्तान इल्तुतमश से उसे मांडलगाँव का पट्टा दिलवाया और अजमेर के लिए रवाना कराया।

(५) दुखित होहिं पर बिपति बिसेषी

स्वामी दयानन्द सरस्वती एक बार गंगातट पर स्नान

करने गये। वहाँ एक साधु वस्त्र धोता हुआ दिखायी दिया। उसने स्वामीजी को प्रणाम कर उनका परिचय पूछा। फिर वह उनसे बातचीत करने लगा। बातें करते करते उसने उनसे प्रश्न किया, "आप इतने त्यागी परमहंस-अवधूत होकर भी खण्डन-मण्डन के जटिल जाल में स्वयं को क्यों उलझा लेते हैं ? उससे अलिप्त होकर क्यों विचरण नहीं करते ?"

स्वामीजी ने हँसकर कहा, "हम तो सब कुछ करके भी अलिप्त ही हैं। जहाँ तक व्यवहार का प्रश्न है, हम सामान्य जनों से प्रेम करते हुए ज्ञानयुक्त व्यवहार करते हैं . . .।"

उस साधु ने बीच में ही प्रश्न किया, "आप सामान्य जन के प्रेम की बात क्यों करते हैं ? श्रुति (वेद) का तो मंत्र है कि आत्मा से प्रेम करो।" और इसके समर्थन में उसने बृहदारण्यकोपनिषद् के मैत्रेयी-याज्ञवल्क्य का संवाद उद्धृत कर दिया।

इस पर स्वामीजी ने उससे प्रश्न किया, "क्या आप आत्मा से प्रेम करते हैं ?" साधु ने जवाब दिया, "हाँ।" स्वामीजी ने आगे पूछा, "बताओ, प्रेममयी आत्मा कहाँ है ?" साधु ने उत्तर दिया, "राजा से लेकर रंक तक और हाथी से लेकर चींटी तक सबमें आत्मा व्याप्त है।" स्वामीजी ने पुनः पूछा, "जब आत्मा सबमें व्याप्त है, तो क्या आप सबसे प्रेम करते हैं ?" साधु ने जवाब दिया, "निश्चय ही।" फिर जरा नाराज हो उनसे बोला, "क्या

आपको मेरी बात पर विश्वास नहीं है ? क्या आप मुझे झूठा समझते हैं ?"

स्वामीजी ने कहा, "मैं आपको झूठा नहीं समझता, मगर इतना अवश्य कह सकता हूँ कि आप उस महान् आत्मा से प्रेम नहीं करते। आपको अपनी भिक्षा की चिन्ता रहती है, आपको इस बात की चिन्ता रहती है कि आपके वस्त्र किस प्रकार साफ-सुथरे दिखायी देंगे, आपको बस अपने जीवन की चिन्ता रहती है, आपका ध्यान अपने भूखे पेट की क्षुधा का शमन करने की ओर जाता है, लेकिन क्या कभी आपने देश के लाखों नंगे-भूखों के पेट की ओर ध्यान दिया है ? क्या आपने उनकी खुशहाली के बारे में कभी सोचा है ? महात्मन् ! यदि आत्मा से और विराट् आत्मा से प्रेम करना चाहते हो, तो पहले अपने हृदय में सबके प्रति समान ममता का भाव जागृत करो। स्वयं की भूख के साथ साथ दूसरों की भूख का भी ख्याल करो। जो व्यक्ति दूसरों के दुःख को खुद का दुःख मानकर आचरण करता है, उसे ही 'आत्म-प्रेमी' कहलाने का अधिकार है।"

यह सुनते ही उस साधु के ज्ञानचक्षु खुल गये। उसे आत्मग्लानि हुई और वह स्वामीजी के चरणों पर झुक गया।

०

रामकृष्ण-सूक्ति-मन्दाकिनी

१. जैसी जिसकी भावना होगी, वैसा ही उसे लाभ होगा। भगवान् मानो कल्पवृक्ष हैं। उनसे जो जो माँगता है, उसे वही प्राप्त होता है। गरीब का लड़का पढ़-लिखकर तथा कड़ी मेहनत कर हाईकोर्ट का जज बन जाता है और मन ही मन सोचता है, 'अब मैं मजे में हूँ। मैं उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर आ पहुँचा हूँ। अब मुझे बहुत आनन्द है।' भगवान् भी तब कहते हैं, 'तुम मजे में ही रहो।' किन्तु जब वह हाईकोर्ट का जज सेवानिवृत्त होकर पेन्शन लेते हुए अपने विगत जीवन की ओर देखता है तो उसे लगता कि उसने अपना सारा जीवन व्यर्थ ही गुजार दिया। तब वह कहता है, 'हाय, इस जीवन में मैंने कौनसा उल्लेखनीय काम किया ?' भगवान् भी तब कहते है, 'ठीक ही तो, तुमने किया क्या !'

२. इस दुर्लभ मनुष्य-जन्म को पाकर जो इसी जीवन में ईश्वर-लाभ के लिए चेष्टा नहीं करता, उसका जन्म लेना ही व्यर्थ है।

३. उस 'एक' ईश्वर को जानो; उसे जानने से तुम सभी कुछ जान जाओगे। एक के बाद शून्य लगाते हुए सैकड़ों और हजारों की संख्या प्राप्त होती है, परन्तु 'एक' को मिटा डालने पर शून्यों का कोई मूल्य नहीं होता। 'एक' ही के कारण शून्यों का मूल्य है। पहले 'एक', बाद में 'बहु'। पहले ईश्वर, फिर जीव-जगत्।

४. बड़े बड़े गोदामों में चूहों को पकड़ने के लिए दरवाजे के पास चूहादानी रखकर उसमें लाही-मुरमुरे रख दिये जाते हैं। उनकी सोंधी सोंधी महक से आकृष्ट हो चूहे गोदाम में रखे कीमती चावल का स्वाद चखने की बात भूल जाते हैं और लाही खाने जाकर चूहादानी में फँसकर मारे जाते हैं। जीव का भी ठीक यही हाल है। कोटि कोटि विषय-सुखों के घनीभूत समष्टिस्वरूप ब्रह्मानन्द के द्वारदेश पर अवस्थित होते हुए भी जीव उस आनन्द को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न न कर संसार के क्षुद्र विषय-सुखों में लुब्ध हो माया के फन्दे में फँसकर मारा जाता है।

५. रत्नाकर (समुद्र) में अनेक रत्न हैं, पर उन्हें पाने के लिए तुम्हें कठिन परिश्रम करना होगा। यदि एक ही डुबकी में तुम्हें रत्न न मिले, तो समुद्र को रत्न से रहित मत समझ बैठो। बार बार डुबकी लगाओ, डुबकी लगाते लगाते अन्त में तुम्हें रत्न जरूर मिलेगा। उसी प्रकार भगवत्प्राप्ति के पथ में यदि तुम्हारे शुरू शुरू के प्रयत्न असफल सिद्ध हो, यदि थोड़ी साधना कर तुम्हें ईश्वर के दर्शन न हों, तो हताश न होओ, धीरज के साथ साधना करते रहो। अन्त में, ठीक समय पर तुम्हें उनके दर्शन अवश्य होंगे।

६. चैतन्यस्वरूप, आनन्दस्वरूप ईश्वर का ध्यान करो, तुम्हें आनन्द प्राप्त होगा। यह आनन्द वास्तव में नित्य ही विद्यमान है, किन्तु अज्ञात के द्वारा आच्छन्न होकर

वह मानो लुप्त हो गया है। इन्द्रिय-भोग्य विषयों के प्रति तुम्हारा आकर्षण जितना कम होगा, ईश्वर के प्रति तुम्हारा अनुराग उतना ही अधिक बढ़ेगा।

७. छोटा बच्चा घर में अकेले ही बैठे बैठे खिलौने लेकर मनमाने खेल खेलता रहता है, उसके मन में कोई भय या चिन्ता नहीं होती। किन्तु जैसी ही उसकी माँ वहाँ आ जाती है, वैसे ही वह सारे खिलौने छोड़कर 'माँ माँ' कहते हुए उसकी ओर दौड़ जाता है। तुम लोग भी इस समय धन-मान-यश के खिलौने लेकर संसार में निश्चिन्त होकर सुख से खेल रहे हो, कोई भय या चिन्ता नहीं है। पर यदि तुम एक बार भी उस आनन्दमयी माँ को देख पाओ, तो फिर तुम्हें धन-मान यश नहीं भाएँगे, तब तुम सब फेंककर उन्हीं की ओर दौड़ जाओगे।

८. तुम रात को आकाश में तारे देखते हो, परन्तु सूरज उगने के बाद उन्हें देख नहीं पाते। किन्तु इस कारण क्या तुम यह कह सकोगे कि दिन में आकाश में तारे नहीं होते? हे मानव, अज्ञान-अवस्था में तुम्हें ईश्वर के दर्शन नहीं होते इसलिए ऐसा न कहो कि ईश्वर है ही नहीं।

०

साहित्य वीथी

पुस्तक का नाम : विश्वभानुः (Universal Light)

(संस्कृत श्लोकों का संग्रह, अँगरेजी अनुवाद सहित)

लेखक : डा० पी. के. नारायण पिल्ले

प्रकाशक : डा० पी. के. नारायण पिल्ले, जय विहार, जगती, त्रिवेन्द्रम–१४

पृष्ठ संख्या : १६२, मूल्य (सजिल्द): ७५)

संस्कृत में चरित-काव्यों की एक अच्छी परम्परा मिलती है। युगाचार्य स्वामी विवेकानन्दजी के जीवनवृत्त को उपजीव्य बनाकर लिखा गया 'विश्वभानुः' इसी परम्परा में एक नव्यतम सशक्त प्रयास है। बीसवीं सदी के उतरते वर्षों में संस्कृत की यह महार्घ कृति इस पुरातन भाषा की कालजयिता का एक निश्चायक प्रमाण प्रस्तुत करती है। इसके लिए इसके कृती कवि डा. के. नारायण पिल्ले अभिनन्दन एवं साधुवाद के पात्र हैं।

इक्कीस सर्गों में विविध छन्दस्क ५५० श्लोकों में रची गयी इस कृति को कवि ने काव्य की ही अभिधा दी है, किन्तु महाकाव्य की लक्षणावली की कसौटी पर इसे परखें तो यह किसी पुरातन महाकाव्य से अनल्प नहीं है। यथा, यह सर्गबद्ध है, इसका धीरोदात्त अलोक-सामान्य गुणमण्डित एक नायक है, शृंगार-वीर आदि निष्पत्ति-योग्य रसों में अन्यतम शान्तरस इसका जीवातु है, इसका वृत्त विशुद्ध ऐतिहासिक है, त्रिवर्ग सारधर्म की प्राप्ति इसका फल है, नातिदीर्घ नातिह्रस्व आठ से ऊपर

सर्ग हैं। 'सन्ध्या सूर्येन्दु...ध्वान्तवासरा:' आदि वर्ण्य तत्त्वों में से कुछेक का यथाप्रसंग समावेश तो इसमें हुआ ही है, अतः इसके महाकाव्यत्व में कोई सन्देह नहीं। समूची कृति सात छन्दों--अनुष्टुप्, उपजाति, पुष्पिताग्रा, पृथिवी, वसन्ततिलका, वंशस्थ तथा वियोगिनी में उपनिबद्ध है। सर्वाधिक प्रयुक्त छन्द उपजाति है, जो कालिदास से आरम्भ कर श्रीहर्ष पर्यन्त सभी महान् संस्कृत-कवियों का चहेता छन्द रहा है। माधुर्यव्यंजक वर्णोंवाली अल्पसमासा ललितात्मिका वैदर्भी रीति इसमें ही भूयसा प्रयुक्त रही है। अर्थालंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा तथा अर्थान्तरन्यास का ही बाहुल्येन संयोजन इस काव्य में हुआ है।

भाषा प्रवाहमयी है यद्यपि बहुत सरल नहीं। शान्तरस के सहजोत्कर्ष में सहायक प्रसाद गुण इसमें विद्यमान हैं। प्रभावुकता, ऋजुता तथा ओजस्विता से मण्डित इसकी भाषा यतिप्रवार के तेजोद्दीप्त ऊर्जस्वल जीवनवृत्त के चित्रण के सर्वथा उपयुक्त है।

काव्य का उपक्रम अलौकिक घटना के वर्णन से किया गया है। भगवान् रामकृष्णदेव की समाधिजन्य दिव्य अनुभूति पर इसके आद्य सर्ग की उत्थानिका की गयी है--सप्तर्षिमण्डल से भी ऊपर एक प्रोद्भासित भास्वरलोक में सात ऋषि ध्याननिलीन हैं। सहसा एक दिव्य शिशु का आविर्भाव होता है, जो इन सात में से एक के गले मिलकर उससे शुचिस्मितवाणी में अधर्म-

धर्माकुल भूमण्डल पर सुचेताओं के हितार्थ अवतरित होने का आग्रह करता है और अन्तर्धान हो जाता है। वह दिव्य शिशु अन्य कोई नहीं स्वयं भगवान् रामकृष्णदेव थे और वह ऋषि स्वामी विवेकानन्द थे।

दूसरे सर्ग में कथानायक के पितामह परिव्राजक श्री दुर्गाचरण तथा पूर्वाश्रम की उनकी धर्मपत्नि श्रीमती सुन्दरीदेवी के काशी में आकस्मिक सम्मिलन का वर्णन है। तीसरा सर्ग कथानायक के पिता कलकत्ते के सुप्रसिद्ध अभिभाषक विश्वनाथ तथा जननी भुवनेश्वरी देवी के सुखद दाम्पत्य, उनकी पुत्रेषणा तथा नरेन्द्रनाथ के जन्म का विवरण देता है। नरेन्द्र का सहज चापल्योद्धत बाल जीवन, उनकी विक्रम-वृत्तिसान्द्र चेष्टाएँ, उनकी अलोकसामान्य प्रखर मेधा, अप्रधृष्य धैर्य, यतिभाव के प्रति सहर्ष अभिनिवेश चतुर्थ- पंचम सर्ग में वर्णित हैं। श्रीरामकृष्णदेव का दिव्य गुरु भाव, युवा नरेन्द्र का ईश्वर-दर्शन की कामना से उनके पास जाना, भगवान् का निज चरणस्पर्श से उनमें शक्तिपात एवं उनकी भावसमाधि षष्ठ सर्ग का प्रतिपाद्य है। सतत सम्पर्क से गुरुशिष्य के मध्य उत्तरोत्तर उपचीयमान प्रगाढ़ आत्मीयभाव, गुरु द्वारा शिष्य को प्रबोध तथा लोकसेवा हेतु अभिप्रेरण, शिष्य द्वारा उनके आदेश को शिरोधार्य करना सप्तम-अष्टम सर्गों में चर्चित हुआ है। नवम सर्ग में नरेन्द्र पितृकुल, महनीय जननी, प्रियतर सोदर वर्ग को छोड़कर प्रव्रज्या लेने का संकल्प करते हैं और

वराहनगर मठ में दीक्षा लेकर वाराणसी आदि तीर्थों की यात्रा पर चल पड़ते हैं। दसवें सर्ग से प्रारम्भ कर तेरहवें सर्ग तक यतिप्रवर के अखिलदेश-परिभ्रमण का संक्षिप्त विवरण है। इसमें उनके कड़वे-मीठे अनुभवों का भी संक्षिप्त लेखा-जोखा है। चौदहवें सर्ग में युगाचार्य के कन्याकुमारी की पावन शिला पर बैठकर समाधिस्थ होने और अपने भावी कर्तव्य पर गहन विचारपूर्वक निर्णय लेने का वर्णन मिलता है। पन्द्रहवें सर्ग में उनके अमेरिका-प्रवास, सोलहवें में शिकागो नगर के कोलम्बस सभाकक्ष में आयोजित विश्वधर्मसम्मेलन में उनके ओजस्वी भाषण तथा उसके सर्वजन विमोहन प्रभाव का चारु चित्रण किया गया है। अमेरिका के विभिन्न नगरों में वेदान्त की विजय-वैजयन्ती फहराकर, यूरोप के कतिपय नगरों को स्निग्ध वेदान्त-आलोक से आलोकित कर स्वामीजी के लंका होते हुए स्वराष्ट्र-प्रत्यावर्तन का विषय सत्रहवें सर्ग में आया है। भारत में रहकर यतिवर्य द्वारा किये गये महनीय कार्यों का, उनकी यात्राओं का ब्यौरा अगले दो सर्गों में प्राप्त होता है। बीसवें सर्ग में नव्य-वेदान्तकेसरी के बेलुड़मठ-स्थापन, उनकी अमरनाथ-यात्रा तथा द्वितीय विदेश-प्रवास की चर्चा हुई है। अन्तिम सर्ग में उनके उत्तरोत्तर उपचीयमान वैराग्य भाव तथा महासमाधि का मर्मस्पर्शी चित्रण है।

इस प्रकार कवि द्वारा ५५० श्लोकों में युगाचार्य का अशेष जीवनवृत्त अतीव कौशल से शब्दगुंफित किया

गया है। सोलहवें सर्ग में स्वामीजी के ओजस्वी प्रवचन के अनुवाद में मूल की सी आस्वाद्यता सुरक्षित है। एक पावन स्निग्ध अनुभाव महाकाव्य में आद्यन्त व्याप्त है प्राचीन भाषा में पुरातन छन्दों में उपनिबद्ध इस काव्य की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता इसकी प्रतिपादन-शैली की आधुनिकता है। कवि चाहता तो पुराने कवियों की तरह प्राकृतिक दृश्यों यथा हिमालय, सागर नदी आदि का अलंकार-बहुल ऊहात्मक एवं चामत्कारिक वर्णन प्रस्तुत कर सकता था, पर यह सब आधुनिक रुचि के अनुकूल न होता। इसी प्रकार तीसरे सर्ग में श्री विश्वनाथ तथा भुवनसुन्दरी के दाम्पत्य जीवन के चित्रण श्रृंगारिकता का गहरा पुट दिया जा सकता था, पर यह भी कवि ने तुलसीदासजी जैसी 'तेहि श्रृंगार न करौ बखानी वाली उदात्त अनाविल दृष्टि का परिचय दिया है।

और अन्त में भवभूति के शब्दों में कुछ परिवर्तन करके यही कहूंगा--

'अहो प्रासादिकं रूपमनुभावश्च पावनः
स्थाने नारायणकविर्देवीं वाचमवीवृधत्।

(अहो, कितना प्रसन्नगम्भीर था उनका रूप कितना पावन था उनका अनुभाव। समीचीन के लिए ही नारायण कवि ने दैवी वाणी का विस्तार किया है।)

डा० लक्ष्मीकान्त शर्मा
अध्यापक दुर्गा महाविद्यालय, रायपुर